हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-सीरीजका ४८ वाँ ग्रन्थ ।

राणा प्रतापसिंह ।

स्वर्गीय नाट्याचार्य द्विजेन्द्रलाल रायके
बंगला नाटकका अनुवाद ।

अनुवाद-कर्त्ता—
अनेक ग्रन्थोंके लेखक और अनुवादक
श्रीयुत बाबू रामचन्द्र वर्मा ।

प्रकाशक—
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई ।

आषाढ़, १९७८ विक्रम ।
जुलाई, १९२१ ई० ।

प्रथमावृत्ति] [मू० १॥)
जिल्दसहितका मूल्य २) ।

प्रकाशक—
नाथूराम प्रेमी,
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, पो० गिरगाँव, बम्बई।

मुद्रक—
मंगेश नारायण कुळकर्णी,
कर्नाटक प्रेस,
नं० ४३४, ठाकुरद्वार, बम्बई।

नाटक-पात्र ।

(पुरुष ।)

प्रतापसिंह	मेवाड़के राणा ।
अमरसिंह	प्रतापके पुत्र ।
शक्तसिंह	प्रतापके भाई ।
अकबर	भारतके सम्राट् ।
सलीम	अकबरके पुत्र ।
मानसिंह	अकबरके सेनापति ।
महावतखाँ	अकबरके प्र० सेनाध्यक्ष।
पृथ्वीराज	अकबरके सभाकवि ।

प्रतापसिंहके सरदार, मंत्री, भील सरदार माहू, अकबरके दरबारी, शाहबाज सेनापति, चोपदार आदि ।

(स्त्रियाँ ।)

लक्ष्मी	प्रतापसिंहकी रानी ।
इरा	प्रतापसिंहकी कन्या ।
जोशीबाई	पृथ्वीराजकी स्त्री ।
मेहर-उन्निसा	अकबरकी कन्या ।
दौलत-उन्निसा	अकबरकी भानजी ।
रेवा	मानसिंहकी बहिन ।

दासी, रण्डियाँ आदि ।

भूमिका ।

स्वर्गीय द्विजेन्द्रलालरायका यह सबसे पहला गद्य नाटक पहले पहल 'नव-प्रभा' नामक बंगला मासिक पत्रमें निकला था और उसके बाद वि० संवत् १९६२ के वैशाखमें पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ था। इसके पहले वे सीता, पाषाणी और ताराबाई नामक नाटक लिख चुके थे; परन्तु वे सब पद्यप्रधान थे। यह गद्य नाटक कलकत्तेके 'मिनर्वा थियेटर'में बड़े समारोहके साथ खेला गया और दर्शकोंने इसका खूब ही स्वागत किया।

इस नाटकके पहले बंगलामें राणा प्रतापसिंहके ही चरित्रके आधारपर 'अश्रुमती' नामक नाटक लिखा जा चुका था। वह जगत्प्रसिद्ध कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरके भाई श्रीयुत ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुरका लिखा हुआ है और इतना अच्छा समझा जाता है कि उसके होते हुए दूसरा प्रतापसिंह लिखा जाना और उसमें ख्यातिलाभ करना बहुत ही कठिन काम था; फिर भी द्विजेन्द्रबाबूकी विलक्षण प्रतिभाने इस कार्यमें सफलता प्राप्त की और अपनी रचनाको अश्रुमतीसे भी अधिक चमका दिया। उन्होंने उस पूर्वपरिचित चरित्रको भी एक ऐसे आकारमें खड़ा किया कि उसे देखकर दर्शक और पाठक मुग्ध हो गये और उनकी कीर्ति चिरस्थायी हो गई।

यहाँ हम यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि इस नाटकमें प्रतापसिंहका जो चरित्र चित्रित किया गया है, उसमें इतिहासका बहुत ही कम उल्लंघन किया गया है—वह प्रायः इतिहासका ही अनुधावन करता है; फिर भी उन्होंने उसे बहुत ही उज्ज्वल और महत् बना दिया है और इतिहासकी लगामको मानते हुए किसी चरित्रको इतना ऊँचा उठा देना साधारण कलमका काम नहीं है। हमारा साधारण सुपरिचित इतिहास अकबरके चरित्रके उस पहलूको—जिसके कारण खुशरोजवाली घटना घटित हुई थी—इस रूपमें हमारे सामने नहीं रखता है जिस रूपमें इस नाटकने रक्खा है और इस कारण बहुतसे दर्शक और पाठक इससे असन्तुष्ट होते हैं; परन्तु इस विषयमें यदि वे तटस्थ होकर विचार करें और उन सब घटनाओंकी बारीकीसे जाँच करें जिन्हें इतिहास स्वीकार करता है, तो उन्हें अकबर-चरित्रका यह पहलू अवास्तविक नहीं जान पड़ेगा।

कामोंके हिसावसे। परन्तु हृदयका परिचय देना इतिहासका कार्य नहीं है; इतिहाससे हम इसकी आशा भी नहीं रखते। नाट्यकार द्विजेन्द्रबाबूको इतिहासकी उसी कार्यावलीमें प्राणप्रतिष्ठा करनी पड़ी है—उसके बीच हृदयका परिचय परिस्फुट करना पड़ा है और समस्त घटनावलीके मध्य एक कार्य-कारणसम्बन्ध आविष्कार करके नाटकका आभ्यन्तरीण विकाश दिखाना पड़ा है। इसी लिए इतिहास कई स्थानोंमें कुछ विकृत हो गया है।

" बहुतसे स्थलोंमें द्विजेन्द्रलालने अपने किसी चरित्रको जिस प्रकार समझा है, प्रचलित मत और विश्वासके प्रतिकूल होकर भी उसी प्रकार उसे चित्रित किया है। जैसे उनके अकबर और औरंगजेबके चरित्र। इतिहासकी ये सब विकृतियाँ तो उनकी इच्छानुसार हुई हैं, परन्तु अनेक विकृतियाँ ऐसा भी हैं जो उन्हें नाटकके प्रयोजनके अनुसार अगत्या करनी पड़ी हैं। शाहजहाँ और नूरजहाँमें इतिहासने नाटकोंके केवल कंकालके गढ़नेमें सहायता की है;—उनके आभ्यन्तरिक क्रमविकाशमें इतिहासको कोई भी स्थान नहीं दिया गया है। प्रतापसिंह, दुर्गादास और गोविन्दसिंहके चरित्रमें नाट्यकारने केवल एक एक ही पहलूको स्पष्ट किया है। प्रतापसिंह वीरत्व, स्वदेशप्रेम और स्वदेशके लिए कठोर स्वार्थत्यागकी प्रतिमूर्ति हैं, दुर्गादास कर्तव्यनिष्ठाके महान् आदर्श हैं और गोविन्दसिंह प्रतापसिंहकी ही अविकल छाया हैं। इन सब चरित्रोंमें विश्लेषण या अन्तर्द्वन्द्वके प्रदर्शनका कोई भी स्थान नहीं है—एक उद्देश्य, एकनिष्ठा, एक कर्तव्यके पैरोंपर ही ये सब कुछ उत्सर्ग कर रहे हैं। इन्हें हम मनुष्यके रूपमें नहीं पाते। ये सभी उसी एक जातीयताकी प्रतिमूर्ति और एक ही जातीयभावकी अभिव्यक्ति हैं। इसी लिए इनके चरित्रांकणमें इतिहासका उल्लंघन करनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ी। परन्तु नूरजहाँ, शाहजहाँ, औरंगजेब, दारा, चाणक्य आदिके चरित्रोंमें नाट्यकारने मनस्तत्वको सामने रखकर आलोचना की है और मनुष्योंके हिसाबसे ही इनके गुणदोष दिखाने चाहे हैं। ऐतिहासिक घटनाओंकी सहायतासे, अपनी असाधारण कल्पनाशक्तिके द्वारा इन सबके अन्तरके विविधभावोंका विकाश और घात-प्रतिघात प्रस्फुटित करना चाहा है। इसी लिए ऐतिहासिक घटनाओंका उल्लंघन न करके ऐतिहासिक चरित्रोंमें प्रयोजनके अनुसार दोषगुणोंका आरोप किया गया है। औरंगजेबके सभी काम ऐतिहासिक हैं; परन्तु उनके भीतर उसके चरित्रका जो विकास है, वह द्विजेन्द्रलालकी निजकी चीज

है। शाहजहाँको सताया हुआ दिखानेके लिए नाटयकारने इस मुगल-सम्राट्के पूर्व जीवनपर पर्दा डाल दिया है। इस बातको अप्रकाशित रखकर कि शाहजहाँने स्वयं भी पितृद्रोह और भ्रातृहत्या करके सिंहासन प्राप्त किया था, उसे बूढ़ा, दुर्बल, असीम स्नेहशील, क्षमामय और सताये हुए पिताके रूपमें हमारे सम्मुख खड़ा करके, उसकी शोचनीय अवस्थाके लिए, हमें सहानुभूति और दुःखानुभव करनेका अवसर दिया है। इसी तरह दाराको उन्नतचरित्र और स्नेहशील वीररूपमें चित्रित करके नाट्यकारने उसकी दुर्गतिपर हम लोगोंकी सहानुभूति और औरंगजेबपर क्रोधका उद्रेक कराना चाहा है। इसीसे नाटकके सुभीतेके लिए नाट्यकारको इतिहासको एक ओर रखकर कल्पनाकी सहायता लेनी पड़ी है।

" ऐतिहासिक नाटकोंकी रचनामें सेक्सपीयरने भी इतिहास या मूल कथानकको इच्छानुसार परिवर्तित किया है; परन्तु वह इतिहास ठीक ठीक लिखे हुए सुप्रचलित इतिहासके भीतर नहीं आता, इस कारण सेक्सपीयरको कोई दोषी नहीं ठहराता। परन्तु द्विजेन्द्रबाबूने जिस इतिहासका आश्रय लिया है, वह सुप्रचलित है और उसके विश्वासने लोगोंके हृदयमें गहरा घर कर लिया है। इस कारण उसके प्रतिकूल लिखनेसे द्विजेन्द्रबाबू एक खास दर्जेके लोगोंके अप्रिय हो गये थे।"

ऐतिहासिक बातोंके इस विरोधके सम्बन्धमें द्विजेन्द्रबाबू भी प्रतापसिंहकी भूमिकामें थोड़ीसी कैफियत दे गये हैं। उसका अनुवाद यह है:—" जो लोग चिल्लाते हैं कि इसमें ऐतिहासिक सत्यकी रक्षा नहीं हुई, वे मानों ऐतिहासिक सत्यके विषयमें तत्त्ववेत्ता रस्किनके विचारोंका पाठ करते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि कभी कभी ऐतिहासिक घटनाके सम्बन्धमें, लड़नेवाले दोनों पक्षोंकी रिपोर्टमेंसे कौनसी सच है, इसका निर्णय करना असंभव हो जाता है। 'पोर्ट आर्थर' सम्बन्धी घटनायें इसका एक उदाहरण है। सुना है, एक फरासीसी लेखकने यहाँ तक लिखा है कि ट्राफलगरके युद्धमें फरासीसोंकी विजय हुई थी!"

द्विजेन्द्रबाबूकी यह कैफियत उन ऐतिहासिक बातोंके सम्बन्धमें जान पड़ती है जिन्हें उन्होंने जान बूझकर परिवर्तित किया है और जिनके विषयमें उनकी धारणा हो गई थी कि वे वैसी ही हैं। जैसे कि खुशरोजके मेलेमें अकबरके द्वारा राजपूत स्त्रियोंका सतीत्व नष्ट किया जाना।

टाड साहबके राज्यस्थानके आधार पर यह बात ऐतिहासिक सत्य मान ली गई है कि " जब राणा प्रतापसिंह अतिशय त्रस्त हो गये, उनके दुःख सीमासे

अधिक बढ़ गये, तब उन्होंने अकबरसे सन्धि कर लेनेका विचार किया और इसके लिए उन्होंने सम्राट्को एक पत्र लिखा। वह पत्र वास्तवमें राणाका ही था; परन्तु पृथ्वीराजने उसे जाली बतलाया और राणाको फिरसे उत्तेजित करनेके लिए एक जोशीली कविता लिखकर भेजी।" राणा प्रतापसिंहके सम्बन्धमें अब तक जितने नाटक, उपन्यास, काव्य आदि लिखे गये हैं, प्रायः उन सभीमें इस असत्य घटनाको स्थान दिया गया है और दुर्भाग्यसे द्विजेन्द्रबाबूने भी अपने इस नाटकमें इसे सत्य माना है। परन्तु कुछ वर्ष पहले हमने एक लेख पढ़ा था जिसमें सप्रमाण सिद्ध किया गया था कि राणा प्रतापसिंहने अकबरसे कभी सन्धि करनेकी प्रार्थना नहीं की और न राजा पृथ्वीराजने ही वह कविता इस प्रसंग पर लिखी थी। मालूम नहीं, टाड साहबने किस आधार पर उक्त घटनाको लिपिबद्ध किया था। यद्यपि द्विजेन्द्रबाबूने उक्त घटनाके रहते हुए भी अपने प्रतापसिंहके चरित्रको किसी तरह शिथिल नहीं होने दिया है—केवल एक मानवसुलभ क्षणिक दुर्बलताकी झलक दिखाकर ही उन्हें उनके अनन्य साधारण शौर्य और साहसके सिंहासन पर पुनः आरूढ कर दिया है; फिर भी यदि उन्हें इस घटनाकी असत्यताका पता होता, तो मालूम नहीं प्रतापसिंहका यह चित्र हमारे सामने और कितने उज्ज्वल और महिमामय रूपमें उपस्थित होता।

भारतवर्षके इतिहासमें राणा प्रतापसिंहका चरित्र इतना आदर्श और महान् है कि उसे पढ़कर कवि और लेखक अपने रचनालोभको संवरण नहीं कर सकते। यही कारण है जो भारतकी शायद ही कोई भाषा हो, जिसमें प्रताप-चरित्रपर अनेक काव्य, नाटक और उपन्यास न लिखे जा चुके हों। यहाँ तक कि संस्कृतमें भी—जो अब केवल हिन्दू पण्डितोंकी भाषा है—'प्रताप-चरित' की रचना हो गई है। ऐसी दशामें हिन्दी तो इससे वंचित रह ही कैसे सकती थी जो राणा प्रतापके इस देशकी एक प्रधान भाषा है। उपन्यास और काव्योंके सिवाय हिन्दीमें कई नाटक भी लिखे जा चुके हैं जिनमें काशीनिवासी बाबू राधाकृष्णदासका 'महाराणा प्रतापसिंह' मुख्य है और बड़े आदरकी दृष्टिसे देखा जाता है। परन्तु इन सबके होते हुए भी हम द्विजेन्द्रबाबूके 'राणा प्रतापसिंह' को प्रकाशित कर रहे हैं। इसके दो कारण हैं—एक तो महापुरुषोंका गुणकीर्तन जितना अधिक हो उतना ही अच्छा है और दूसरे हम देखते हैं कि वर्तमान-युगमें द्विजेन्द्रबाबूके भावोंके प्रचारकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। क्यों कि इस

समय उनके विचार जनताके लिए संजीवन मंत्रके तुल्य हैं और उन्हींसे यह दासतामोहमुग्ध देश सजीव हो सकता है।

द्विजेन्द्रबाबूने लोकरंजनके लिए या थियेटरोंके दर्शकोंको हँसी मज़ाक और शृंगाररसकी सामग्री जुटानेके लिए लेखनी नहीं पकड़ी थी। उनका उद्देश्य महान् था और वह था देशको जातीयताकी ओर अग्रसर करना। इस बातको प्रकट करते हुए उनके एक चरित्र-लेखकने* जो कुछ लिखा है, यहाँ हम उसका अनुवाद दे देना बहुत ही आवश्यक समझते हैं—

"दोपहरके तेजस्वी सूर्यके समान ज्वालामय अनुभवको लेकर, विशाल वारिधिकी तरंगोंके उच्छ्वासके समान एक विपुल आह्वान जगा देनेके लिए ही द्विजेन्द्र बाबूने इस नाटक-रचनाके कार्यमें हाथ डाला था। हमारे इस अतिशय उदासीन, क्षीण और निस्तेज-जीवनको जगा देनेके लिए ही उन्होंने कमर कसी थी। वे हमारे ही देशके अतीत इतिहासको मथकर उसमेंसे स्वदेशप्रेम, स्वार्थत्याग, कठोर कर्तव्यनिष्ठा और जीवन-व्यापिनी कर्मठताके महान् आदर्शोंको हमारे नेत्रोंके सामने रखनेके लिए प्रयत्नशील हुए थे और इस आदर्शसृष्टिके लिए उन्होंने राजस्थानके गौरवमय इतिहासकी सहायता ली थी।

" द्विजेन्द्रलाल राय इन नाटकोंमें केवल आदर्श अंकित करके ही नहीं रह गये हैं। उन्होंने यह भी दिखाया है कि उन आदर्शोंमें कहाँ और क्या कमी थी। प्रतापसिंहने अकबरके विरुद्ध जीवनभर श्रम किया, फिर भी उन्हें हतसफल होना पड़ा, दुर्गादास सारे युद्धोंमें विजयी हुए फिर भी उन्हें पराभव स्वीकार करना पड़ा और सत्यवतीका उद्योग भी अन्तमें निराशामें परिणत हुआ। ऐसा क्यों हुआ, सो भी द्विजेन्द्रबाबू बतला गये हैं। इन सब नाटकोंमें आदर्श है, कर्म है, चेष्टा है, साधना है, साथ ही अन्तमें विरुद्ध शक्तिके आगे पराजय भी है और वह पराजय अवश्यंभावी है। उस पराजयपर विचार करनेसे ही हमें शिक्षा मिलती है। नाट्यकारने उस शिक्षाको जुदा जुदा पात्रों और पात्रियोंके मुखसे प्रकाशित किया है। प्रतापसिंह महान् थे, उनकी साधना और कर्तव्यनिष्ठा भी महती थी। कर्तव्य ज्ञानके आगे पुत्रस्नेहको भी उन्होंने तुच्छ समझा, और स्वदेशके लिए कठोर दरिद्रताको ही स्वीकार किया, फिर भी उन्हें बारंबार

---

* श्रीयुत पण्डित उपेन्द्रनाथ विद्याभूषण, बी० ए०, एम०आर० ए० एस०।

प्रतिहत होना पड़ा। कारण, उनमें एक दुर्वलता थी और वह यह कि उनके स्वदेशमें अन्य धर्मावलम्बीके लिए कोई स्थान नहीं था। वातकी वातमें उन्होंने अपने प्यारे भाई शक्तसिंहको त्याग दिया, क्यों कि उसने एक मुसलमानीसे विवाह किया था। प्रतापसिंहने यह नहीं समझा कि धर्म, नीति और आचारोंकी नाना प्रकारकी विरुद्धताओंके समवायसे ही देश एक हो सकता है। उनका विशाल उदारहृदय देशाचारकी एक तुच्छ सीमाके भीतर आवद्ध होकर संकीर्ण हो गया।

"इसी संकीर्णताके फलसे महावतखाँके समान उदार और कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तिके लिए अन्य धर्म धारण करनेके कारण राजस्थानमें कोई स्थान नहीं रहा। जातीय जीवनकी इस 'ट्रेजिडी' (शोकपर्यवसान) की वात द्विजेन्द्र वावूने अनेक स्थानोंमें प्रकाशित की है। मनुष्यत्वको खोकर जातिकी उन्नति नहीं की जा सकती। जिस दिन जाति मनुष्यत्वको खो देती है उसी दिनसे उसके अधःपतनका प्रारंभ होता है। 'मेवाड़-पतन' में मानसीके मुखसे यही वात कहलाई गई है—'जिस दिनसे वह अपने विवेककी आँखोंपर पट्टी वाँध आचारका हाथ पकड़कर चलने लगा, जिस दिनसे वह सोचना समझना भूल गया, उसी दिनसे उसका पतन आरंभ हुआ। जातीयताकी अपेक्षा मनुष्यत्व वड़ा है। जातीयता यदि मनुष्यत्वकी विरोधिनी हो तो ऐसी जातीयताका मनुष्यत्वके महासमुद्रमें विलीन हो जाना अच्छा है। अच्छा हो यदि इस मनुष्यत्वविहीन देशकी स्वाधीनता डूव जाय और यह जाति फिर मनुष्य वने।'

"यहीं पर द्विजेन्द्रवावूकी अन्तिम उपदेशवाणी प्रकट हुई है—

'फिरसे मनुष्य सवै वनो।
जो देश छूट्यो, दुख न तौ,
फिरसे मनुष्य सवै वनो।' इत्यादि।

और यही द्विजेन्द्रलालकी जातीयताका आदर्श है। इसी शिक्षाको वे देशमें प्रचार करना चाहते थे। उनकी जातीयताके आदर्शमें एक खास वात यह है कि एक जातिकी उन्नतिके लिए दूसरी किसी जातिसे द्वेष नहीं किया जाना चाहिए। विद्वेषके मार्गसे वास्तविक जातीय उन्नति नहीं हो सकती। मनुष्यत्वको वचाये रखकर, धर्म, न्याय और सत्यकी मर्यादाकी रक्षा करके विभिन्न

धर्म, नीति और आचारोंको एक प्रेमके मंत्रसे जोड़कर जो जातीयताका जागरण होगा, वही यथार्थ वस्तु होगी।''

सुप्रसिद्ध समालोचक श्रीयुक्त विजयचन्द्र मजूमदारने भी अपने एक लेखमें वतलाया है कि '' द्विजेन्द्रवावूने अपने प्रतापसिंह नाटकमें मुख्यतया यह समझानेका प्रयत्न किया है कि, यदि आदर्श ऊँचा न हो तो प्रतापसिंह जैसी दृढ प्रतिज्ञा और वीरता भी फलदायक नहीं हो सकती। प्रतापसिंह चाहे जितने वड़े देवता क्यों न हों, वे अपने वंश-गौरवकी प्रतिष्ठा करनेके लिए ही व्यग्र थे। कविने दो तीन स्थानोंमें यह भी समझाया है कि वंश-गौरवकी अपेक्षा स्वदेश कई गुना वड़ा है और उस स्वदेशका अर्थ एक छोटासा राज्य नहीं हो सकता।''

हमारा विश्वास है कि देशपूज्य महात्मा गाँधी अपनी जलदगंभीर वाणीसे देशमें जिस जातीयताको जाग्रत करनेके लिए अहर्निशि परिश्रम कर रहे हैं, द्विजेन्द्रवावूके इन नाटकोंमें भी उसीको महत्त्व दिया गया है और इस कारण इस समय इन नाटकोंका प्रचार करना एक तरहसे महात्मा गाँधीके ही आन्दोलनमें सहायता देना है। हिन्दू और मुसलमानोंमें एकता और प्रेमभाव उत्पन्न करनेकी भी इन नाटकोंमें सवसे अधिक सामग्री है। आशा है कि पाठक इन सव वातोंपर विचार करके इन नाटकोंका अधिकाधिक प्रचार करनेका प्रयत्न करेंगे।

स्वर्गीय कविवरके सुपुत्र श्रीमान् दिलीपकुमार राय महाशयके हम वहुत ही कृतज्ञ हैं जिनकी उदार कृपासे हम इन नाटकोंको प्रकाशित करके हिन्दी साहित्यके एक आवश्यक अंगकी पूर्ति कर रहे हैं।

अन्तमें काशीके सहृदय सुकवि श्रीमान वावू जयशंकर प्रसादजीको धन्यवाद देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं जिन्होंने अनुवादकर्ताकी और हमारी प्रार्थनापर ध्यान देकर इस नाटकके गीतोंका सुन्दर अनुवाद कर देनेकी कृपा की है।

आगे वंगलासे अनुवाद करके 'प्रतापसिंह और दुर्गादास' शीर्षक समालोचना प्रकाशित की जाती है, जो नाटक-साहित्यके मर्मज्ञोंके लिए वहुत लाभदायक होगी।

वम्वई,
श्रावण सुदी १,
सं० १९७८ विक्रम।

निवेदक—
नाथूराम प्रेमी।

प्रतापसिंह और दुर्गादास।

(समालोचना।)

*" मेवार पाहाड़ ! उड़िछे जाहार, रक्तपताका उच्चशिर—
तुच्छ करिया म्लेच्छदर्प, दीर्घ सत शताब्दीर।"

उस दृश्यसे कौन ऐसा है जो मुग्ध न होगा? कौन ऐसा है जो उस पताकाकी ओर विस्मय और आश्वासकी दृष्टिसे निहार कर न देखे? कविवर द्विजेन्द्रलालके प्रतापसिंह और दुर्गादास, राजपूतानेकी वीरकीर्तियोंके आधारसे लिखे गये हैं।

समस्त प्रकृति चञ्चल है इसी लिए इसका नाम जगत् है। अनित्यताके छाया-कम्पनको ही विचित्रता कहते हैं और वह विचित्रता ही सुन्दरताका प्राण है। संसारमें जितने सुन्दर पदार्थ हैं, उनमें मानव-हृदय सबसे अधिक सुन्दर है और उस सुन्दर तथा पुण्यचरित्रमें और कुछ नहीं केवल देवासुर-संग्रामका इतिहास लिखा हुआ है। इसी लिए चित्र-शिल्पकी यह समालोचना अधिक यथार्थ है कि 'चित्रकी असम्पूर्णता ही यथार्थ पूर्णता है।'

गौतमका अटल देवत्व हम लोगोंकी उत्तम आकांक्षाओंका केवल एक दैव स्वप्न है और पाषाणी (अहल्या) भी एक मानसिक प्रतिमा है। परन्तु कवि द्विजेन्द्र-लालके इन दोनों चित्रोंमें (गौतम और अहल्यामें) जिनको हम निरन्तर उप-लब्ध करते हैं उन पाप-पुण्योंका संघर्ष दिखलाया गया है, इस लिए वे सुन्दर हो गये हैं। यदि वे अतिमानुष होते, उनको मानवीय रूप दिया न जाता, तो इतने सुन्दर न होते। ठीक इसी तरह, यदि प्रतापसिंह और दुर्गादासके चरित्र भी

---

* मेवाड़-पतन नाटकके सुप्रसिद्ध बंगला गीतका एक अंश। इसका भाव यह है:—" यह मेवाड़पहाड़ है, जिसकी लाल धुजा लगातार सात सौ वर्ष तक म्लेच्छोंके अभिमानको तुच्छ करती हुई ऊँचा मस्तक किये फहरा रही है।—

" है मेवाड़ पहाड़ यह जिसकी लाल धुजा फहराती है।"
दर्प पुराना चूर किया है यवनोंका, बतलाती है।"

केवल आदर्शरूपमें चित्रित किये जाते, तो ये इतने आदृत नहीं होते। कमसे कम नाटकोंमें तो इनका आदर न होता।

द्विजेन्द्रबाबूके प्रतापसिंह नाटकमें दो बहुत ही स्थिर, प्रकाशमान और सुन्दर तारकायें चित्रित हैं—एक ईरा और दूसरी मेहरुन्निसा। यद्यपि इनका प्रकाश अपार्थिव या अलौकिक सा मालूम होता है, फिर भी इनमें पार्थिवताकी कमी नहीं है। यह सच है कि ईरा सत्यराज्यके पुरोहितके समान, दुःखका मोहमन्त्र उच्चारण करते करते ही शक्तसिंहके हृदयमें भक्तिका संचार करके डूब गई और वह जिस ऊगते हुए सूर्यकी अग्रदूती बनकर आई थी उसकी दीप्तिमें उसकी प्रकाशमधुरिमा केवल स्वप्नके सदृश स्मृत रह गई; फिर भी उसके चरित्रमें पार्थिवता है, क्षीणता है और अंधकार भी है। इसी तरह मेहरुन्निसा यद्यपि अस्तगामी सूर्यकी अनुगामिनी है और यह भी सच है कि वह प्रेमराज्य-की संन्यासिनी है, फिर भी हमें उसके संन्यासमें कोई अमानुषिक उदासीनता नहीं दिखलाई देती।

बहुतसे पाठक प्रतापसिंहके कई पात्रोंमें सम्पूर्णताका दोष आरोपण करते हैं, इसी कारण प्रारम्भमें मैंने इस बातका उल्लेख कर देना उचित समझा।

प्रतापसिंहनाटकके प्रारंभमें ही राजपूत सरदारोंसे जो प्रतिज्ञा-पाठ कराया गया है, वह ऐतिहासिक है। यद्यपि उस प्रतिज्ञाकी अटलता इस समय नहीं रही है; फिर भी राजपूतानेके अनेक राजा अब भी सोनेके थालके नीचे एक पत्ता रखकर आहार करते हैं और सुकोमल शय्याके नीचे थोड़ासा घास रखकर सोते हैं। हाय प्रताप, यही वह तुम्हारा देश है! जब द्विजेन्द्रबाबूके प्रतापसिंह अपनी परपददलिता, हृतालङ्कारा, प्रपीड़िता और दीना जन्मभूमिको दिखलाते हैं तब शक्तसिंह (हम लोगोंके ही समान) कहते हैं—" जन्मभूमि ? भला मैं उसका कौन होता हूँ और वह मेरी कौन लगती है?" जिस गंभीरता और उत्ते-जनासे इस प्रथम दृश्यका अभिनय होता है और जो साधना एवं संन्यास इस अभिनयमें सूचित हुआ है उसके अन्तरालमें भी जो चंचलता, उदासीनता और स्वार्थपरता छुपी हुई थी, कविने उसे प्रथम दृश्यमें ही दिखा दिया है। हमारे प्राचीन अलंकार-शास्त्रके विचारसे यह बड़ी भारी कुशलताका काम है। जब तक उत्साहकी दीप्ति इतनी नहीं जाग उठती, तब तक अस्तके अन्धकारकी गभीरता अच्छी तरह नहीं समझी जा सकती।

दौड़े जा रहे हैं । गतिकी इस मन्थरताके कारण प्रतापसिंह नाटक भावुक पाठकोंके लिए बहुत ही प्यारा है । घर बैठकर धीरे धीरे पढ़नेसे इस ग्रन्थके कवित्वरसका आस्वादन बहुत सुभीतेके साथ किया जा सकता है। ईरा, मेहर, दौलत और शक्तसिंहकी अनेक उक्तियाँ सुन्दर गीतकाव्यके सदृश हैं, उन्हें बार बार, फिर फिर कर, पढ़नेकी इच्छा होती है । रजियामें झंकार है, परन्तु उसे पकड़कर कोई गीत नहीं गढ़ा जा सकता । कमलाके गीत वडिश (मछली पकड़नेके काँटे) की नोकपर लगे हुए लुभानेवाले पदार्थके समान हैं और जिसने यह पदार्थ डाला है, वह अपने पतिके ग्रासकी चिन्तामें पागल हो रही है । कर्मक्षेत्रकी सजीव तसवीरके हिसाबसे दुर्गादास सुरचित नाटक है और इसी श्रेणीके नाटक ही अभिनयके लिए अधिक उपयोगी होते हैं । *

—श्रीविजयचन्द्र मजूमदार ।

* प्रवासी भाग ८, अंक ९ से अनुवादित ।

देखेंगे, चाहे तेज प्रकाश हो और चाहे आँधी हो, सभी अवस्थाओंमें उसी प्रकृतिकी आज्ञानुरूप परिवर्तित नई नई विचित्रतायें ही देखेंगे। अर्थात् क्षीण प्रकाश और मन्द वायुमें जो प्रकृति दिखलाई देती थी, तीव्र प्रकाश और वायुमें भी उसीका एक रूपान्तर दिखलाई देगा, और कुछ नहीं। आँधीके समय यद्यपि लहरोंकी लीला बढ़ जायगी; परन्तु मन्दवायुमें भी उस लीलाको पूरा विराम नहीं मिलेगा, यह निश्चय है। उस फेनिल समुद्रके माहात्म्यके चारों ओर सूर्योदय और सूर्यास्त, आकाशका बादलोंसे घिरना और मुक्त हो जाना, किनारेकी भूमिका प्रकाश और अन्धकार, पवन-प्रवाहकी धीरता और प्रबलता ये सब दृश्य घूम फिरकर आते जाते रहते हैं। छोटे छोटे और चञ्चल दृश्योंका नयापन समुद्रके स्पर्शसे और भी अधिक नया गौरव प्राप्त करता है और सौन्दर्यके घात-प्रतिघातमें समुद्रका स्फुट माहात्म्य और भी अधिक प्रस्फुटित होता रहता है। इस विषयमें जर्मन कवि शीलरका 'विलियम टेल' नामक नाटक बहुत ही उपयोगी दृष्टान्त है। यह तो हम नहीं जानते कि किस महासाधनाके क्षेत्रमें उसकी गुणावलीका विकाश हुआ है; किन्तु प्रथमसे लेकर अन्ततक उस (गुणावली) का अभिनय देखते हैं। समालोचकने ठीक ही कहा है कि यह गुणावली मानों स्वतः ही विकसित थी—"Without the help of education or great occasions to develop them।" टेलके चारों ओरके चरित्र उसीके स्पर्शसे विकसित हुए हैं और उन छोटे छोटे चरित्रोंकी विचित्रतामेंसे होकर हम टेलकी एक ही महिमाको विविधभावसे देखते हैं। टेलके चरित्रकी समालोचनामें कार्लाइलने जो कुछ कहा है, वह दुर्गादासके सम्बन्धमें भी अच्छी तरह फबता है:—"...a deep reflective, earnest spirit, thirsting for activity; yet bound in by the wholesome dictates of prudence; a heart of benevolent, generous, unconscious a like of boasting or of a fear;" अर्थात् वह गंभीर चिन्ताशील, उत्साही, कर्मपिपासु, सद्विवेचनाकी नियमित सीमामें बद्ध, उपकाराभिलाषी, दानी और दंभ तथा भयसे सर्वथा अपरिचित है।

हम नूरजहाँ नाटककी एक स्वतंत्र समालोचना* लिख चुके हैं; फिर भी यहाँ

* यह समालोचना हमारी सीरीजके नूरजहाँ नाटककी भूमिकामें प्रकाशित हो चुकी है।

पर यह कह देनेकी आवश्यकता है कि प्रतापसिंह, दुर्गादास और नूरजहाँ, इनमेंसे चाहे जिस नाटकको ले लीजिए, आप देखेंगे कि उसमें मुगलशासनकालके राजपूतानेके आभ्यन्तरिक भाव और दिल्लीश्वरोंके अन्तःपुरकी अवस्थायें वहुत ही साफ साफ वर्णित हुई हैं। इतिहासमें जो वात नाना घटनाओंको एकत्रित करके समझनी पड़ती है, ठीक वही वात इनमें प्रत्यक्षभावसे चित्रित हुई है। वहुतसे लोग अकवरकी प्रशंसा करते हैं और वहुतसे निन्दा; किन्तु इन नाटकोंमें सम्राटोंके राज्यभोगकी प्रकृति, इतिहासको अक्षुण्ण रखकर ही प्रदर्शित की गई है। मुगलोंके समयमें राज्यशासन अवश्य था; परन्तु साथ ही राज्यभोग इतनी अधिक मात्रामें था कि किसीके समयमें तो उस भोगका उच्छ्वास शासनकी तटभूमिको लाँघ गया है और किसी किसीके समयमें कथञ्चित् संयमके कारण किनारे किनारे होकर उड़ गया है। थोड़ीसी भी न्यायपरताके मार्गपर चलनेसे हिन्दुओंके देशमें शासनकार्य वहुत ही निर्विवादरूपसे चला जाता है। अतः इस सहज राजकार्यके वाद वहुतसा अवकाश वचा रहता था और उसमें ये अपरिमित धनके स्वामी सम्राट् नित्य नये नये उपायोंसे प्रवल भोगलालसाको चरितार्थ करनेके लिए तत्पर होते थे। सुरा, संगीत और सुन्दरियाँ प्रतिदिन ही मुगलोंकी लालसा वढ़ानेके लिए 'ताजा व ताजा नओ व नओ' तैयार रहती थीं। जो लोग खुशरोजकी अपवित्रताको वड़े जोरोंके साथ अस्वीकार करते हैं, उन्हें भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि पृथ्वीराज और तानसेन प्रतिदिन ही नई नई प्रशस्तियाँ (प्रशंसात्मक कवितायें) रचरच कर अकवरके स्नायुचक्रको उत्तरोत्तर वुभुक्षु (भूखा) वनाया करते थे। जव किसी सुखका उपकरण यथेष्ट नहीं होता, जव भोगकी तृष्णा थोड़ेमें शान्त नहीं होती, तव नरहत्या करके भी नूरजहाँकी प्राप्ति की जाती है। ऐतिहासिक चित्रमें जिसकी केवल थोडीसी रेखायें दिखती हैं, नाटकके चित्रमें वह अच्छी तरह प्रत्यक्ष हो जाता है।

यह तो हुआ दृश्यपट और रंगभूमिका विचार; अव एक वार प्रयुक्त पात्रोंकी वात सुनिए।

'प्रतापसिंह' नाटक एतिहासिक होनेपर भी इसमें शक्तसिंह और दौलतुन्निसा कवि द्विजेन्द्रलालकी दो विलकुल नई और मनोहर सृष्टि हैं। शक्तसिंहके चरित्रमें स्वाभाविकता वहुत अधिक है। वह इस वातका वढ़िया दृष्टान्त

है कि अतिशय सदाशय व्यक्ति भी उच्च आकांक्षाओंके फेरमें पड़कर मर्यादाका उल्लंघन कर डालते हैं । शक्तसिंह स्वयं भी इस बातको नहीं जानते थे कि मेरी लहराती हुई आकांक्षा-तरंगोंके नीचे इतना आत्म-सम्मान, इतना आत्म-निग्रह और इतना आत्म-त्याग छुपा हुआ होगा। अवस्थाकी विचित्रताओंमें पड़-कर और घटनाओंसे टकराकर जब उनके भीतरका छुपा हुआ सौन्दर्य बाहर फूट पड़ा है, तब कमसे कम थोड़ी देरके लिए तो उसने प्रतापसिंहके भी प्रका-शको मलिन कर दिया है । यह हम चौथे अंकके आठवें दृश्यकी बात नहीं कह रहे हैं। वहाँ तो प्रतापगुणमुग्ध स्वदेशप्रेमी शक्तसिंह थके हुए सिंहको नया बल दिलानेका उद्योग करते दिखलाई देते हैं । नहीं, हम कहते हैं उस स्थानकी बात, जहाँ शक्तसिंह अपना सर्वस्व खो चुके हैं । यों तो संन्यासी शक्तसिंह सदासे ही निर्धन थे; फिर भी विधाताने उन्हें ' दौलत ' दी थी । जिन्होंने उसे दिया था उन्होंने ही छीन भी लिया और उस दिन छीन लिया जिस दिन शक्त-सिंहने दौलतके माहात्म्यको अच्छी तरह समझा था । जिस रत्नको वे खो ही चुके थे, उसकी चर्चा करनेमें यद्यपि कोई लाभ नहीं रह गया था और फिर ऐसी अवस्थामें तो वह चर्चा बिल्कुल ही अभीष्ट नहीं थी जब कि उससे भ्रातृ-वियोगकी संभावना थी। परन्तु चतुरों और बुद्धिमानोंकी इस विचारशीलताने उदार-प्रेमी शक्तसिंहके मनमें स्थान नहीं पाया । प्रतापसिंहने कहा—" शक्त तुम मेरे भाई नहीं हो, क्यों कि तुमने मुसलमानीके साथ विवाह किया है । " पा-ठक इस समय एक बार शक्तसिंहकी ओर देखें । वे देखेंगे कि प्रताप-परित्यक्त शक्तसिंह भ्रातृबन्धनकी क्षुद्रताको अतिक्रम करके समग्र संसारके भाई बनकर खड़े हैं और प्रतापसिंह उनके आगे छोटे दिख रहे हैं ।

और दौलतुन्निसा ? यदि हम कविकी भाषामें कहें तो वह एक देवी है— " राणाजी आप देवता अवश्य हैं, परन्तु वह भी देवी ही थी । " जिस देशका ' थेरी-गाथा '* नामक ग्रन्थ सारी पृथिवीमें स्त्रियोंकी साहित्य-रचनाकी

---

* बौद्ध साध्वियोंको 'थेरी' कहते हैं। यह 'स्थविरा'का पाली या प्राकृत रूप है । बौद्धकालकी स्थविराओंकी कविताओंका एक संग्रह मिला है जिसका नाम 'थेरी-गाथा' है। इसमें सैकड़ों स्त्रियोंकी रचना है। इस समालोचनाके लेखकने ही उसका सुन्दर बंगानुवाद किया है ।

सबसे पहली साक्षी देता है, जिस देशकी ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी आदर्श पत्नीका प्राचीनतम दृष्टान्त है, उस देशके एक कविकी कलमसे शक्तसिंह और दौलतके मिलनका चित्र खींचा जाना अवश्य ही शोभा देता है। नीचताकी धूलि और संकीर्णताके अन्धकारमें हम लोग ऐसे अन्धे हो रहे हैं कि इस मिलनके महिमामय सौन्दर्यको नहीं देख सकते। दुर्गादास नाटकमें भी देखते हैं कि दिलेरखाँ सम्राट्को हिन्दुओंका भविष्यत् समझाते हुए कहते हैं—"हिन्दू और मुसलमान दोनों, मजहब, कौम और रस्मरवाजके फर्कको भूलकर, घुटने टेककर, हाथ जोड़कर, एतकाद और भक्तिके साथ, इस हिन्दोस्तानकी हरी भरी धरतीकी जयजयकारसे आसमानको गुँजा देवें!—उनके दिलोंमें यह खयाल पैदा हो कि यह हिन्दोस्तान हमारी मा है, और हम दोनों एक माके दो लड़के—भाई भाई—हैं।" सम्राट्ने यह नहीं समझा और हमने भी नहीं समझा। इसी लिए हमारी यह दुर्दशा हो रही है।

इस नाटकमें कविकी एक और विल्कुल अभिनव सृष्टि मेहरुन्निसा है। स्वप्नमयी मेहरने कविकल्पनाकी चिराराध्य कविता-सुन्दरीके समान अपनी लावण्य-तरंगोंके अन्तरालमें अशान्तताको छुपा रक्खा है। जैसा कि कवि मेथ्यू अर्नोल्डने कहा है:—

> Such, poets, is your bride, the muse! young, Gay,
> Randiant, adorn'd outside; a hidden ground
> Of thought and of austerity within.

प्रताप नाटकमें घटनाओंकी अधिकता है और पात्र भी वहुत हैं। परन्तु जिस चतुराईसे ये सब सुसम्बद्ध और एकत्रित किये गये हैं, उसकी प्रशंसा नहीं हो सकती। लक्ष्मीके तिरोधानमें, जोशीवाईके मरणमें और पृथ्वीके परितापमें—जो प्रकाश असीम स्पन्दन और निवृत्तिसे विस्तृत हुआ है, उससे ही प्रतापसिंह नाटक जगमगा रहा है। सारे पात्र एक ही सूत्रमें गूँथ दिये गये हैं, इस लिए घटनाओंकी बहुलता और पात्रोंकी अधिकतासे रचनामें कोई भद्दापन नहीं आ पाया है।

दुर्गादास नाटकमें दिलेरखाँ, कासिम, गुलनार और महामायाके चरित्र बड़ी सावधानीसे चित्रित किये गये हैं। नैषधचरितकी वर्णन शैली अलंकारोंसे

लदी हुई है । उसमें एक जगह कहा है कि "दमयन्तीकी रचना कर चुकने पर जब ब्रह्माजीने अपने हाथ धोये, तब उन हाथोंके रंगके धोवनसे कमलोंकी उत्पत्ति हो गई !" यदि हम श्रीहर्ष होते तो कहते कि कवि द्विजेन्द्रलालने मेहरका चित्र अंकित करके जब अपनी कलमको झड़ाया तब उससे जो छींटे चित्रपटपर पड़ गये, उन्हींसे 'रजिया' बन गई ! इसी कारण रजियामें मेहरकी फुल्लता और दीप्ति तो है परन्तु रंगकी गहराई नहीं है। मेहर एक स्वप्न है; क्यों कि स्वप्न सौन्दर्य और चिन्तामय होता है। परन्तु रजिया मानो गुलाबी नशेका एक खयाल है। रजियाके शरीरमें तितलीके रंगका, कण्ठमें पपीहाके स्वरका और सर्वाङ्गमें हरिणीकी चञ्चलताका अनुभव होता है । और यदि कवि और विज्ञानवित् पण्डित ग्राण्ट एलेन उसकी परीक्षा करते तो वे उसमें पागलपनकी भी थोड़ीसी छींट पाते । वह अपनी मरणशय्यापर पड़ी हुई माताका संवाद देनेके लिए आती है, फिर भी बिना किसी तरहके उद्वेगके गाना सुनने लगती है और रागिणीकी त्रुटियोंकी समालोचना करने बैठ जाती है ! इसे एक तरहका पागलपन ही कहना चाहिए। किन्तु कविकी नाट्य-कुशलताके हिसाबसे रजियाके चित्रकी आवश्यकता है । उसके बिना गुलनारकी कवित्वशून्य निरवच्छिन्न भोगलालसा अच्छी तरह समझमें नहीं आ सकती ।

गुलनारके सम्बन्धमें एक बात लोगोंको बहुत खटकेगी । वह छायानट (एक तरहकी रागिनी) भले ही न समझ सके और बेला मोतिया चम्पा चमेलीकी शब्दातीत सुर-गरिमाका भी अनुभव न कर सके; फिर भी ऐसी जड़प्राणा और महापापिनी कौन होगी जो अपने पतिके सामने जोरके साथ अपनी परपुरुषासक्तिकी बात कह डाले ? यह सच है कि चरित्रके असंयमसे और उच्छृंखलतासे लोग पागल हो जाते हैं; परन्तु फिर भी अतिशय लालसाकी उन्मत्ततासे भी क्या इतने बड़े बादशाहके मुँहपर ऐसी बात कही जा सकती है ? और क्या यह कहना स्वाभाविक हो सकता है ? इसका उत्तर हम बादशाहके मुँहसे सुनते हैं कि "गुलनारने बहुत ज्यादा शराब पी ली है !"

महामायाका चरित्र बहुत ही सुन्दर अंकित हुआ है । जिस समय उसने गुलनारको क्षमा कर दिया, उस समय भी उसके हृदयमें प्रतिहिंसाकी आग जल रही थी और यह स्वाभाविक भी है। तेजस्विनी महामाया नारी थी,—देवी नहीं; किन्तु नारी होनेपर भी असाधारण नारी थी। स्वयं दिलेरखाँने इस बातकी

साक्षी दी है कि वह कैसे दर्पके साथ अपने बच्चेको छातीसे बांधे हुए घोड़ेपर सवार होकर चल दी थी। राजस्थानमें जो घटनायें सचमुच ही घटित हुई हैं, उनके चित्रको केवल ' आदर्श ' नहीं कहा जा सकता।

दिलेरखाँका चरित्र निर्भय, वीर, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, उदार और महत् रूपमें चित्रित हुआ है। योद्धाके स्नायुओं और मस्तिष्कचक्रमें इन सारे गुणोंके एक साथ विकसित होनेके विषयमें कुछ विवाद नहीं है; किन्तु दिलेरखाँका माहात्म्य, उसके सारे गुणोंके अन्तरालमें छुपे हुए कवित्वमें ही विशेषतासे प्रकाशित हुआ है। औरंगजेबने दिलेरखाँको कायर समझकर उसपर व्यंगवर्षा करनेका उद्योग किया, फिर भी उदार और निर्भय दिलेर उससे फिसला नहीं। दिलेरखाँने उस व्यङ्गको समझकर भी स्वीकार कर लिया कि हमारी सेना महामायाको नहीं पकड़ सकी और अपने अभिप्रायको काव्यमय भाषामें इस तरह प्रकट किया—"देखा, वह एक महिमामय दृश्य था। उसके बाल बिखरे हुए थे और लड़की उसकी छातीसे लगी हुई सो रही थी! वह मातृमूर्ति निर्मेघ उषासे भी निर्मल, वीणाकी झंकारसे भी अधिक संगीतमय और ईश्वरके नामसे भी अधिक पवित्र थी।" ' ईश्वरके नामसे भी अधिक पवित्र ' यह विशेषण बहुतोंको खटक सकता है; परन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि दिलेरखाँने यह बात एक व्यंग करनेवालेसे कही है और कवित्वकी भाषामें कही है। उसके जहाँपनाह सरल विश्वासी थे और नितान्त सरल विश्वासीका ईश्वर एक खिलौनेसे जरा ही बड़ा होता है। ऐसी दशामें एक जीती जागती यथार्थताको उस संकीर्ण नामकी अपेक्षा पवित्र कह देना हमारी समझमें तो कुछ अनुचित नहीं है। भला ऐसे कितने लोग हैं जिनके निकट ईश्वरका नाम प्राकृतिक सौन्दर्यकी असीमता और विश्वप्रीतिकी अस्पष्टतासे प्रभासित होता है?

और एक बात है—धर्म कोई शास्त्र नहीं है, गवेषणा नहीं है और न किसी दर्शनग्रन्थका मत है। वास्तवमें जीवन ही धर्म है। मनुष्यके दैनन्दिन जीवनमें जो पवित्रता और महत्ताका प्रत्यक्ष अभिनय देखा जाता है वही धर्म है। इसी लिए दिलेरखाँने दुर्गादास और कासिमको लक्ष्य करके कहा है—" खुदा! तुम्हारे स्वर्गमें जो देवता चुने जाते हैं वे क्या इनसे भी बड़े हैं?" दिलेरखाँ सौ टंचका शुद्ध सोना था और इसलिए शुद्धके सिवाय वह मिलावटी चीज देखकर नहीं भूल सकता था।

'दिलेरखाँ महत्, दुर्गादास महत् और दरिद्र कासिम भी महत् है। अब प्रश्न यह है कि इन तीनोंमेंसे देवता कौन है? दुर्गादास और दिलेरखाँ धर्म-प्राण, तेजस्वी, उदारप्रकृति और वीर हैं, इस लिए वे साधक हैं, देवता नहीं। किन्तु उच्चाकांक्षाहीन और स्वार्थकी जरासी भी इच्छा न रखनेवाला कासिम निर्धन होनेपर भी परार्थपर है, कर्तव्यका अवतार और करुणाकी मूर्ति है, अतएव वह देवता है। देवता स्वर्गके सिंहासनपर कदापि नहीं बैठे रहते, वे घर घर भिक्षा माँगते फिरते हैं और जनसेवा किया करते हैं।

प्रतापसिंह और दुर्गादासकी तुलनामें हम केवल एक बात और कहकर इस समालोचनाको समाप्त करेंगे। यद्यपि ये दोनों ही नाटक एक श्रेणीकी आत्म-रक्षा और युद्ध-घटनाको लेकर लिखे गये हैं, फिर भी इनमें एक विशेष अन्तर है। दुर्गादासमें कर्मसमारोहकी व्यस्तता, क्षिप्रकारिता (शीघ्रता) और अतएव संक्षिप्तता अधिक है। परन्तु प्रतापसिंहमें कर्मकी गति अपेक्षाकृत मन्थर या मन्द है। ज्यों ही दुर्गादास दर्पके सहित बादशाहके दरबारसे बाहर हुए, त्यों ही दिलेर खाँका सेना सजाकर निकलना, यशवन्तसिंहके बालकको लेकर कासिमका भागना, घोड़ेपर चढ़कर महामायाका प्रयाण करना, आदि दृश्यके बाद दृश्य आते जाते हैं और उनमें नियत उत्साहका प्रवाह दौड़ता हुआ नजर आता है;— वह कहीं भी विश्राम नहीं लेता। यही कारण है जो दुर्गादास नाटक रंगमंचपर दर्शकोंको विशेष सन्तुष्ट कर सकता है।

कर्मकी गति, उत्साहका प्रवाह और विपत्तियोंकी आँधी प्रतापसिंहमें भी है, परन्तु उसमें हम देखते हैं कि योद्धा रात दिन युद्ध ही नहीं कर रहे हैं; शक्तसिंहको समस्या सुलझानेका, इराको सूर्यास्तके दृश्य देखनेका और अकबरको मंत्रणा करनेका काफी वक्त मिल रहा है। रणस्थलमें और मंत्रणागृहके बाहर थोड़ी बहुत कविता पढ़नेका भी समय है। उसमें पृथ्वीराजकी 'प्रथम चुम्बन' वाली कविताकी चर्चामें बड़े बड़े राजा महाराजा भी अपना वक्त काट सकते हैं। सेनाकी छावनीमें भी दौलत प्रेमके फन्देमें पड़ सकती है और मेहर अपने जीवनके स्वप्नको सघन बना सकती है। परन्तु दुर्गादास नाटकमें ऐसा निठल्ला कोई भी नहीं दिखलाई देता जो यह सोचे कि रजियाके गानके 'बेला चमेली चंपा नेवारी' का कुछ अर्थ भी बैठता है या नहीं। सभी लोग अपने अपने कामकी ओर आफिसके बाबुओंकी तरह, किसी न किसी तरह खा पीकर,

दौड़े जा रहे हैं। गतिकी इस मन्थरताके कारण प्रतापसिंह नाटक भावुक पाठकोंके लिए बहुत ही प्यारा है। घर बैठकर धीरे धीरे पढ़नेसे इस ग्रन्थके कवित्वरसका आस्वादन बहुत सुभीतेके साथ किया जा सकता है। ईरा, मेहर, दौलत और शक्तसिंहकी अनेक उक्तियाँ सुन्दर गीतकाव्यके सदृश हैं, उन्हें वार वार, फिर फिर कर, पढ़नेकी इच्छा होती है। रजियामें झंकार है, परन्तु उसे पकड़कर कोई गीत नहीं गढ़ा जा सकता। कमलाके गीत वडिश (मछली पकड़नेके काँटे) की नोकपर लगे हुए लुभानेवाले पदार्थके समान हैं और जिसने यह पदार्थ डाला है, वह अपने पतिके ग्रासकी चिन्तामें पागल हो रही है। कर्मक्षेत्रकी सजीव तसवीरके हिसावसे दुर्गादास सुरचित नाटक है और इसी श्रेणीके नाटक ही अभिनयके लिए अधिक उपयोगी होते हैं। *

—श्रीविजयचन्द्र मजूमदार।

* प्रवासी भाग ८, अंक ९ से अनुवादित।

राणा प्रतापसिंह ।

पहला अंक ।

पहला दृश्य ।

स्थान—कोमलमेरके वनका भीतरी भाग । सामने कालीजीका मंदिर है ।

समय—प्रभात ।

[कालीजीकी मूर्तिके पास कुल-पुरोहित खड़े हैं । सामने प्रताप-
सिंह और राजपूत सरदार लोग जमीन पर पड़ी हुई तल-
वारपर हाथ रखे दाहिना घुटना टेके बैठे हैं ।]

प्रताप—अच्छा तो आप लोग काली माताके सामने शपथ करें ।

सब सरदार—हम लोग शपथ करते हैं—

प्रताप—कि यदि आवश्यकता होगी तो हम लोग चित्तौरके लिये प्राण तक दे देंगे—

सब—यदि आवश्यकता होगी तो हम लोग चित्तौरके लिये प्राण तक दे देंगे ।

प्रताप—जबतक चित्तौरका उद्धार न होगा—

सब—जबतक चित्तौरका उद्धार न होगा—

प्रताप—तबतक भोजपत्रपर भोजन करेंगे—

सब—तबतक भोजपत्रपर भोजन करेंगे—

प्रताप—तबतक घास-पातपर सोएँगे—

सब—तबतक घास-पातपर सोएँगे—

प्रताप—तबतक वेश-भूषा ग्रहण न करेंगे—

सब—तबतक वेश-भूषा ग्रहण न करेंगे—

प्रताप—और शपथ करो कि हम लोग अथवा हमारे वंशका कोई कभी मुगलोंके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध न करेगा।

सब—हम लोग अथवा हमारे वंशका कोई कभी मुगलोंके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध न करेगा।

प्रताप—प्राण रहते कभी उनका दासत्व न करेगा—

सब—प्राण रहते कभी उनका दासत्व न करेगा—

प्रताप—उनके और हम लोगोंके बीचमें सदा तलवार ही रहेगी।

सब—उनके और हम लोगोंके बीचमें सदा तलवार ही रहेगी।

पुरोहितजी—"स्वस्ति स्वस्ति स्वस्ति" (कहकर अभिमंत्रित जल छिड़कते हैं।)

(प्रतापसिंह उठ खड़े होते हैं। उनके साथ ही साथ सब सरदार भी उठकर खड़े हो जाते हैं।)

प्रताप—(सरदारोंको सम्बोधन करके) आप लोग इस बातको सदा स्मरण रखें कि आज काली माताके सामने अपनी अपनी तलवार छूकर आप लोगोंने यह शपथ की है। देखिए, यह शपथ किसी प्रकार टूटने न पावे।

सब—राणाजी! आप विश्वास रखें। प्राण रहते यह शपथ कभी टूटने न पावेगी।

प्रताप—आप लोग जानते हैं कि मैं यह कठिन पण, यह कठिन शपथ क्यों करा रहा हूं ? बात यह है कि देशहित करना लड़कोंका खेल नहीं है। यह बड़ी भारी साधना—बहुत ही कठिन व्रत है। देश-हितका साधन न तो वक्तृताएँ देनेसे होता है और न गीत गानेसे। इसके लिये कठोर दुःख भोगना चाहिए; प्राणपणसे उद्योग करना चाहिए, हृदयका रक्त बहाना चाहिए। अच्छा अब आप लोग कोमलमेर चले जायँ।

(सरदार लोग चले जाते हैं। प्रतापसिंह उत्तेजित भावसे मन्दिरके सामने टहलने लगते हैं। उनके कुल-पुरोहित पहलेकी भाँति चुपचाप खड़े रहते हैं। क्षणभरके उपरान्त पुरोहितजी पुकारते हैं।)

पुरो०—राणाजी !

(प्रतापसिंह उनकी ओर मुँह करके खड़े हो जाते हैं।)

पुरो०—राणाजी ! आज आपने जो व्रत धारण किया है, उसका पालन भी आपसे हो सकेगा ?

प्रताप—गुरुदेव ! यदि मुझसे पालन न हो सकता तो मैं यह व्रत धारण ही न करता। मातृभूमिका अपने हाथोंसे उद्धार करना सब लोगोंके भाग्यमें नहीं बदा होता। परन्तु हाँ, उसके लिये प्राण देनेका सौभाग्य सब लोगोंके हाथमें होता है।

पुरो०—राणाजी ! मैं आपको आशीर्वाद देता हूँ। ईश्वर करे, आप इस व्रतका पालन करनेमें समर्थ हों।

(पुरोहितका प्रस्थान।)

(प्रतापसिंह फिर मन्दिरके सामने टहलने लगते हैं।)

प्रताप—अकबर ! तुमने युद्ध-क्षेत्रमें अन्याय करके, गुप्तभावसे जयमलका वध करके चित्तौरपर अधिकार किया है। हम लोग क्षत्रिय

हैं। यदि हो सकेगा तो धर्म्मयुद्ध करके चित्तौरपर फिरसे अधिकार प्राप्त करेंगे; परन्तु हम लोग अन्याय-युद्ध कभी न करेंगे। तुम मुगल हो—दूर देशसे भारतमें आये हो। यहाँ आकर कुछ सीख जाओ। सीख जाओ कि एकाग्रता, सहिष्णुता और वास्तविक वीरता किसे कहते हैं; सीख जाओ कि देशके लिये किस प्रकार प्राण दिये जाते हैं। आज तुम भारतके सम्राट् हो। तुमने सिंहासनपर बैठकर बहुतसे नीच, कायर और स्वधर्म्म-द्रोही राजपूत देखे होंगे जो राजसभामें तुम्हारी स्तुति करके बड़े बनना चाहते होंगे, जो युद्ध-क्षेत्रसे भागते होंगे, जो अपनी कन्या, अपनी स्त्री और अपनी बहन तुम्हारे चरणोंमें अर्पित करके तुम्हें प्रसन्न करना चाहते होंगे। परन्तु मैं तुम्हें यह बतलाना चाहता हूँ कि इस समय भी ऐसे राजपूत हैं जो अपने प्राण देकर मातृभूमिकी पूजा करते हैं, स्त्रीजातिका सम्मान करते हैं और तुम्हारे कृपापूर्वक दिये हुए पुरस्कारपर लात मारते हैं। तुमने हमारे पिता उदयसिंहका चित्तौरसे भागना देखा है। अब उन्हींके पुत्र प्रतापसिंहकी उसी चित्तौरमें प्रवेश करनेकी प्रतिज्ञा देखो। (कालीकी प्रतिमाके सामने घुटने टेककर और हाथ जोड़कर) माता! ऐसी कृपा कीजिए जिसमें मेरी यह प्रतिज्ञा पूरी हो, जिसमें धर्म्मकी जय हो, जिसमें महत्त्वका महत्त्व घटने न पावे। देवी! तुम मुझे यह वर दो कि मैं चित्तौर, अपना प्यारा चित्तौर, वह पर-पद-दलित चित्तौर फिरसे प्राप्त करूँ।—कौन ?

(प्रतापसिंह उठकर खड़े हो जाते हैं और फिरकर देखते हैं। सामने उनके भाई शक्तसिंह खड़े हुए दिखाई देते हैं।)

प्रताप—कौन ? शक्तसिंह ?

शक्त०—हाँ भइया, मैं हूँ।

प्रताप—तुम अवतक कहाँ थे ?

शक्त०—कवतक ?

प्रताप—जबतक देवीकी पूजा हो रही थी।

शक्त०—बस इतनी ही देरतक न ?

प्रताप—हाँ।

शक्त०—मैं गणित कर रहा था।

प्रताप—गणित कर रहे थे ?

शक्त०—हाँ भइया, गणित कर रहा था। भविष्यके अन्धकारमें चौकड़ियाँ भर रहा था। जीवनकी पहेलियोंका खण्डन कर रहा था।

प्रताप—तुमने कालीजीकी पूजा नहीं की ?

शक्त०—पूजा !—नहीं भइया, पूजापर मेरा विश्वास नहीं है, और फिर पूजा करनेसे कुछ होता भी नहीं। बस देख लो—काली माता जीभ निकाले—मूक, स्थिर, मिट्टीकी मूरतकी भाँति—खड़ी हैं। न इनमें प्राण है न कोई शक्ति है। भइया, इनकी पूजा करनेसे कुछ भी नहीं होता। इनकी पूजासे तो गणित करना कहीं वढ़कर है। इसी लिये मैं गणित कर रहा था—समस्याकी मीमांसामें लगा था।

प्रताप—वह कौनसी समस्या है ?

शक्त०—समस्या यही है कि लोग जो जन्मान्तर जन्मान्तर कहा करते हैं सो सच है या झूठ। मैं तो जन्मान्तरको नहीं मानता। परन्तु वह सच भी हो सकता है। मनुष्य इस संसारमें ठीक उसी प्रकार आता और चला जाता है जिस प्रकार आकाशमें धूमकेतु आता और चला जाता है। वह इस आकाशमें तो फिर नहीं दिखाई पड़ता, परन्तु सम्भव है कि किसी और आकाशमें दिखाई पड़ता हो। और फिर यह भी हो सकता है कि बहुतसी शक्तियोंके मिलनेसे

मनुष्यका जन्म होता हो और उन्हीं शक्तियोंके अलग अलग हो जानेके कारण उसकी मृत्यु होती हो । यह ‘ मैं ’ विच्छिन्न हो जाता हो और फिर इसी एक बड़े ‘ मैं ’ से दस पाँच छोटे छोटे ‘ मैं ’ उत्पन्न हो जाते हों ।

प्रताप—शक्त ! क्या तुम सदा इसी प्रकारके प्रश्न ही मन ही मन गढ़ा करोगे और सारा जीवन उनकी मीमांसाओंमें ही लगा दोगे ? न तो प्रश्नोंकी सीमा है और न उनकी मीमांसाओंका अन्त । व्यर्थकी चिन्ताएँ छोड़ दो । आओ हम लोग मिलकर कुछ काम करें । सहज-बुद्धिसे जो बात जान पड़ती हो, जिस ओर स्वाभाविक सरल प्रवृत्ति हो, वही काम करें ।

शक्त०—काम ! कौन सा काम ?

प्रताप—शक्त ! जरा अपनी इस दीन जन्मभूमिको देखो । देखो, दूसरे लोग किस प्रकार इसे पद-दलित करते और अनेक प्रकारके कष्ट पहुँचाते हैं—किस प्रकार इसके अलंकार उतारे लिये जाते हैं । आओ हम दोनों भाई मिलकर इसके उद्धारके लिये जीवन उत्सर्ग कर दें । इससे बढ़कर अच्छी और कौनसी बात हो सकती है ?

[प्रतापसिंहके मंत्री भामाशाहका प्रवेश ।]

भामा०—राणाजी !

प्रताप—कहिए मंत्रीजी, क्या समाचार है ?

भामा०—घोड़ा तैयार है ।

प्रताप—चलो शक्त, राजधानीमें चलें । बहुतसे काम करनेको पड़े हैं । चलो, कोमलमेर चलो ।

शक्त०—आप चलिए । मैं आता हूँ ।

(आगे आगे प्रतापसिंह और उनके पीछे पीछे भामाशाहका प्रस्थान ।)

शक्त०—(कुछ समयतक इधर उधर टहलनेके उपरान्त) जन्मभूमि ? भला मैं उसका कौन होता हूँ और वह मेरी कौन लगती है ? मैंने यहाँ जन्म लिया है, तो इससे क्या होता है ? केवल इतनेसे ही उसके प्रति मेरा कोई कर्त्तव्य नहीं हो जाता । मैं यहाँ जन्म न लेकर समुद्रमें अथवा आकाशमें जन्म ले सकता था ! और फिर जन्मभूमिने तो मुझे इतने दिनों-तक निर्वासित कर दिया था ! वह तो मुझे खानेके लिये मुट्ठी भर अन्न भी न दे सकी थी । भला उसके लिये मैं अपना जीवन क्यों उत्सर्ग कर दूँ ? हाँ भइया मेवाड़के राणा ठहरे। वे उसके लिये जीवन उत्सर्ग कर सकते हैं । मुझे क्या गरज है ? वे मेरे कौन होते हैं ? कोई नहीं ।

(धीरे धीरे शक्तसिंहका वनसे प्रस्थान ।)

दूसरा दृश्य ।

स्थान—कोमलमेर-प्रासादके पासके सरोवरका तट ।

समय—सन्ध्या ।

[प्रतापसिंहकी कन्या अकेली खड़ी सूर्य्यास्तका दृश्य देख रही है ।]

ईरा—(सूर्य्यकी ओर देखते हुए, ताली बजाकर) कैसा गौरव-पूर्ण दृश्य है ! सूर्य अस्त हो रहा है । सारे आकाशमें और कोई नहीं है । केवल एक सूर्य ही सूर्य्य है । चार पहरतक आकाशकी मरुभूमिमें चलकर, इस समय सारे जगतको लालरंगसे रंगकर सूर्य्य अस्त हो रहा है । जैसे गौरवके साथ उसका उदय हुआ था वैसे ही गौरवके साथ उसका अस्त भी हो रहा है । यह लो, अस्त हो गया । पीले आकाशका रंग अब धूसर हो रहा है । अब मानों देवताओंकी आर-तीके लिए सन्ध्या इस समय अस्त होते हुए सूर्यकी ओर चुपचाप देखती

हुई धीरे धीरे विश्वासमन्दिरमें प्रवेश कर रही है । सुन्दर सन्ध्या ! प्यारी सखी ! तुम्हें इस समय कौनसी चिन्ता है ? तुम्हारे हृदयमें इतनी अधिक निराशा क्यों छाई हुई है ? तुम इतनी मलिन क्यों हो ? इतनी नीरव, इतनी कातर क्यों हो ? बोलो बोलो, प्यारी सखी, तुम्हें क्या हुआ है ?

[ईराके पीछेसे उनकी माता लक्ष्मीका प्रवेश ।]

ल०—ईरा !

(ईरा चौंक उठती है । परन्तु माताको देखकर शान्त हो जाती है ।)

ईरा—क्या है माँ ?

ल०—तुम इतनी देरतक यहाँ क्या कर रही हो ?

ईरा—माँ, मैं सूर्यास्त देख रही हूँ । देखो, कैसा सुन्दर दृश्य है ! इस समय आकाशका कैसा उज्वल वर्ण है ! पृथ्वी इस समय कितनी शान्त है ! मुझे सूर्यास्तका दृश्य बहुत अच्छा लगता है ।

ल०—यह दृश्य तो तुम नित्य ही देखा करती हो ।

ईरा—तिसपर भी यह नित्य ही बहुत अच्छा लगता है । यह कभी पुराना होता ही नहीं । सूर्योदय भी बहुत सुन्दर होता है । परन्तु सूर्यके अस्त होनेमें कुछ और ही बात है जो उसके उदयमें नहीं है । इसमें कुछ और ही गम्भीर रहस्य, कुछ और ही छिपी हुई वेदना, कुछ और ही मिला हुआ असीम अगाध विषाद, कुछ और ही मधुर नीरव बिदाई होती है । माँ यह बहुत ही सुन्दर, बहुत ही भला जान पड़ता है ।

ल०—और यदि यहाँ तुम्हें ठण्ढ लग जाय तो ?

ईरा—नहीं माँ, मुझे ठण्ढ नहीं लगती । मुझे अभ्यास सा हो गया है । माँ, तुम यह तारा देख रही हो न ?

ल०—कौनसा तारा?

ईरा—यही जो पश्चिम आकाशमें—अस्त होते हुए सूर्य्यके पूर्व ओर है।

ल०—हाँ, देखती तो हूँ।

ईरा—जानती हो, उसका क्या नाम है?

ल०—नहीं।

ईरा—इसे शुक्र तारा कहते हैं। यह तारा छः महीने तो उदय होते हुए सूर्यके आगे आगे और छः महीने अस्त होते हुए सूर्यके पीछे पीछे चलता है। कभी तो यह प्रेमके राज्यका संन्यासी और कभी सत्यके राज्यका पुरोहित रहता है। माँ, देखो यह तारा कैसा स्थिर, कैसा चमकीला और कैसा सुन्दर है!

[ईरा टक लगाकर तारेकी ओर देखने लगती है। लक्ष्मी कुछ समयतक ईराकी ओर देखती रहती है। अन्तमें उसके पास चली जाती है और उसका हाथ पकड़ लेती है।]

ल०—अच्छा ईरा, अब चलो, घर चलें। सन्ध्या हो गई।

ईरा—माँ जरा और ठहर जाओ। देखो, वह कौन गा रहा है?

ल०—हैं इस सुनसान घाटीमें वह कौन है!

[कुछ दूरपर एक उदासी गाता हुआ चला आता है।]

गीत।

सुखकी कथा कहो मत प्यारे सुखको मैं छल कहता हूँ।
दुखमें हूँ तो अच्छा हूँ मैं सुखी उसीमें रहता हूँ॥
संगी मेरे जीवनका दुख आँख मिला सुख चल जाता।
छनभर हँसी साथकर मेरे शिष्टाचार सिखा जाता॥
कभी दयाकर चरणधूलि सुख आकर गिरा दिया करता।
तब मुँहसे हँसना होता है अश्रु आँखमें छिप रहता॥

आँसू देख चला जाता सुख वह विरक्त हो जाता है।
तभी मित्रसम दुःख हमारा अश्रु पोंछने आता है॥

(लक्ष्मी और ईरा चुपचाप खड़ी खड़ी गीत सुनती हैं। इतनेमें लक्ष्मी देखती है कि ईराकी आँखें भर आई।)

ईरा—(सहसा माताकी ओर देखकर) माँ, यह बहुत ठीक कहता है। मुझे तो बहुतसे अवसरोंपर यही जान पड़ता है कि सुखकी अपेक्षा दुःखकी छवि बहुत ही मनोहर होती है।

ल०—दुःखकी छवि मधुर होती है ?

ईरा—हाँ माँ, दुःखकी छवि मधुर होती है। मार्गमें बहुतसे लोग हँसते खेलते हुए निकल जाते हैं, परन्तु क्या कभी कोई उनकी ओर आँख उठाकर देखता भी है ? परन्तु यदि उनमेंसे एक व्यक्ति भी दीन, दुखी या रोता हुआ दिखाई दे तो क्या यह जी नहीं चाहता कि उसे बुलाकर कुछ पूछें ? क्या यह जी नहीं चाहता कि उसकी दुःखभरी कहानी सुनें ? क्या यह जी नहीं चाहता कि उसके हृदयमें अपना भी हृदय मिला दें और चूमकर उसकी आँखोंके आँसू पोंछ दें ? जो युद्धमें जीतता है उसका हाल सुनना अच्छा लगता है या जो युद्धमें हारता है उसका हाल सुनना ? सहानुभूति किसके साथ होती है ? और गीत—आनन्दका भला जान पड़ता है या दुःखका ? उषा सुन्दर होती है या सन्ध्या ? वह दिल्ली नगर जाकर देखनेको जी चाहता है जो खूब सुन्दर और सौभाग्यसे पूर्ण है और जहाँ बहुत रौनक है ? या वह मथुरापुरी जाकर देखनेकी इच्छा होती है जिसका वैभव नष्ट हो गया है, जो मलिन हो रही है और जहाँ उदासी छाई है ? माँ सुखमें तो मानों एक प्रकारका अहंकार

होता है—उसका स्वर बहुत ऊँचा और कर्कश होता है। परन्तु विषाद बहुत ही विनयी, बहुत ही नीरव होता है।

लक्ष्मी—हाँ, यह बात तो बहुत ठीक है।

ईरा—मैं तो यही समझती हूँ कि दुःख बहुत ही महत् और सुख बहुत ही नीच होता है। दुःखमें जो कुछ जमा किया जाता है, सुखमें वही खर्च किया जाता है। दुःख सृष्टिकर्ता और सुख भोग करनेवाला होता है। दुःख जड़की तरह मिट्टीमेंसे रस खींचता है परन्तु सुख फूलों और पत्तोंकी तरह विकसित होकर उसी रसको व्यय करता है। दुःख वर्षाकी तरह तपी हुई भूमिको शीतल करता है और सुख शरद्ऋतुके पूर्ण चन्द्रमाकी तरह आकर उसपर हँसता है। दुःख किसानोंकी भाँति खेतकी मिट्टी तोड़ता है, सुख राजाकी तरह उसमें उगे हुए अन्नका भोग करता है। सुख उत्कट और दुःख मधुर होता है।

लक्ष्मी—ईरा, इतनी बातें तो मेरी समझमें नहीं आतीं, परन्तु मैं इतना अवश्य जानती हूँ कि इस संसारमें जो लोग बहुत बड़े समझे जाते हैं वे ही दुःखी हैं, वे ही अभागे हैं और उन्हींको अनेक प्रकारके कष्ट होते हैं। मैं तो रह रहकर यही सोचती हूँ कि मंगलमय भगवानके विधानमें यह नियम क्यों है।

[प्रतापसिंहके पुत्र अमरसिंहका प्रवेश ।]

अमर०—माँ !

लक्ष्मी—(मुड़कर) क्या है, अमर ?

अमर०—माँ, पिताजी बुला रहे हैं।

लक्ष्मी—चलो चलती हूँ। (ईरासे) चलो बेटी, चलें।

[लक्ष्मी और ईरा चली जाती हैं । अमरसिंह सरोवरके किनारे एक सूखी लकड़ीपर बैठ जाते हैं ।]

अमर०——(स्वगत) राम राम! दिनभरके बाद इस समय जरा विश्राम करनेका तो अवसर मिला । किसी तरह जान बची ! दिनरात युद्ध ही युद्ध । पिताजी न तो खाते-पीते हैं और न सोते-बैठते हैं । बस शिक्षा, व्यायाम, मंत्रणा यही सब हुआ करता है । मैं कहनेको तो राजपुत्र हूँ, पर मुझे भी साधारण सैनिकोंकी तरह युद्ध-सम्बन्धी काम सीखने पड़ते हैं । तो फिर राजपुत्र होनेसे मुझे लाभ ही क्या हुआ ? और फिर जान बूझकर अपने लिये असीम दरिद्रता, सदाके लिये दीनता और सदा बने रहनेवाले अभावको निमंत्रण देना, मेरी समझमें ही नहीं आता कि ये सब काम क्यों किये जाते हैं । लो, चाचाजी आ रहे हैं । चाचाजी !

[शक्तसिंह टहलते हुए अमरसिंहके पास आते हैं ।]

शक्त०——कौन ? अमर ?

अमर०——हाँ चाचाजी, मैं हूँ । आप इस समय यहाँ कैसे चले आये ?

शक्त०——कुछ नहीं, यों ही टहल रहा हूँ । जरा हवा चल रही है, इसीसे निकल आया । घरमें तो बड़ी गरमी है । यह उदयसागरका तट बहुत ही सुन्दर है ।

अमर०——क्यों चाचाजी, आप जहाँ रहते थे वहाँ ऐसा सरोवर नहीं था ?

शक्त०——नहीं बेटा ।

अमर०——यह कोमलमेर आपको कैसा लगता है ?

शक्त०——बुरा तो नहीं है ।

अमर०——क्यों चाचाजी, पिताजी आपको यहाँ मुगलोंसे युद्ध करनेके लिये बुला लाये हैं ?

शक्त०—नहीं, उन्होंने तो मुझे आश्रय दिया है ।

अमर०—आश्रय दिया है ? तो क्या पहले आपको कोई आश्रय नहीं था ?

शक्त०—हाँ, एक प्रकारसे नहीं ही था ।

अमर०—आप तो पिताजीके सगे भाई हैं न ?

शक्त०—हाँ, हूँ तो सही ।

अमर०—तो फिर तो यह राज्य जैसे उनका है वैसे ही आपका भी ठहरा ।

शक्त०—नहीं बेटा ! तुम्हारे पिताजी मेरे बड़े भाई हैं । मैं उनसे छोटा हूँ ।

अमर०—इससे क्या होता है ? आप उनके भाई तो हैं न ?

शक्त०—हाँ, परन्तु शास्त्रके अनुसार बड़ा भाई ही राज्य पाता है। छोटे भाईको राज्य नहीं मिलता ।

अमर०—क्यों चाचाजी, ऐसा नियम क्यों बना है ? केवल बड़ा होनेसे तो कोई श्रेष्ठ हो ही नहीं जाता ! तो फिर यह नियम क्यों ?

शक्त०—यह तो मैं नहीं जानता । (स्वगत) प्रश्न तो बहुत ठीक है । केवल बड़ा होनेसे तो कोई श्रेष्ठ हो ही नहीं जाता? तो फिर इस प्रकारका सामाजिक नियम क्यों बन गया ? नियम तो यह होना चाहिए था कि जो श्रेष्ठ हो वही राज्य पावे । चाहे वह बड़ा हो चाहे छोटा । फिर न जानें क्यों ऐसा नियम नहीं बना। है यह भारी समस्या।

अमर०—चाचाजी, आप क्या सोच रहे हैं ?

शक्त०—कुछ नहीं । चलो, घर चलें । रात हो गई ।

(दोनोंका प्रस्थान।)

तीसरा दृश्य।

स्थान—राजकवि पृथ्वीराजके मकानका बाहरी भाग।

समय—प्रभात।

[पृथ्वीराज और सम्राट्के सभासद—मारवाड़, अम्बर, ग्वालियर और चन्देरीके राजा लोग बैठे हैं।]

मार०—हाँ, कविराजजी, जरा अपनी कविता पढ़िए तो। (अम्बरकी ओर देखकर) बहुत ही बढ़िया कविता है—बहुत ही बढ़िया कविता है।

अम्बर—यह व्यर्थकी सिरपच्ची—रहने भी दीजिए। इस समय कविता अविता जाने दीजिए। आइए, बढ़िया बातें हों, हँसी-दिल्लगी हो।

मारवाड़—नहीं नहीं साहब, जरा सुनिए तो सही। कविताका जैसा सुन्दर नाम है, वैसे ही सुन्दर उसके भाव हैं और वैसे ही सुन्दर उसके छन्द भी हैं।

चँदेरी—कविताका नाम क्या है?

पृथ्वी०—"प्रथम चुम्बन"।

चँदेरी—नाम तो बड़ा रसीला है। अच्छा पढ़िए, जरा सुनें तो सही।

अम्बर—प्रथम चुम्बन! भला इस विषयपर भी कोई कविता हो सकती है?

पृथ्वी०—क्यों कविता क्यों नहीं हो सकती? जितनी देरसे आप लोग बातें कर रहे हैं उतनी देरमें तो कविता पढ़ी भी जा चुकती। अच्छा, अब सुनिए।

अम्बर—अजी हटाइए कविता अविता । क्यों कविराजाजी, आज राजनमार्गकी कोई नई खबर है ?

पृथ्वी०—खबर और कौनसी होगी ! बस यही राणाजीके युद्धकी खबर है ।

अम्बर—हुं: ! प्रतापसिंहका युद्ध और अकबर बादशाहके साथ ! आजतक और भी कभी ऐसा हुआ है ? या आगे कभी हो सकता है ? अगर हो सकता होता तो क्या हम लोग अबतक न करते ?

ग्वा०—हुँ ! और नहीं तो क्या ! हो सकता होता तो अबतक हम लोग चुपचाप बैठे रहते ?

चँदेरी—हाँ—ठीक तो है !

मार०—" नवविकसित कुसुमित घन पल्लव " वाहवा क्या बात है ! जीते रहिए कविराजाजी महाराज !

अम्बर—आये बड़े मेवाड़के राणा !

ग्वा०—एक छोटेसे राज्यके राजा ही न !

चँदेरी—और फिर राजा भी कितने बड़े ! एक जरासा चित्तौर-का किला था वह भी मुगलोंने जीत लिया !

अम्बर—लोग कहते हैं न कि " बिना राज्यके राजा ! " बस ठीक वही बात है ।

मार०—जरा अपनी बहादुरी दिखलाना चाहते हैं, और क्या ?

पृथ्वी—हाँ, आजकल प्रतापसिंह जरा बहुत बढ़ चले हैं । अभी हालकी बात है—उन्होंने सहसा आक्रमण करके मुगलोंकी तीन फौजें बिलकुल काट डाली थीं ।

अम्बर—दिमाग बहुत बढ़ गया है तो उसका फल भी जलदी ही मिल जायगा ।

चँदेरी—अब उठिए, चलिए। अभी शाही दरबारमें हाजिरी भी देनी होगी। (उठ खड़े होते हैं।)

मार०—चलिए, चलिए। (उठ खड़े होते हैं।)

(ग्वालियर और अम्बरके राजा भी उठ खड़े होते हैं।)

अम्बर—मैं तो कहता हूँ कि यह प्रतापका पुराना गँवारपन है।

चँदेरी—और मैं तो कहता हूँ कि प्रतापका पुराना पागलपन है।

[सब लोग इसी प्रकार प्रतापसिंहकी हँसी उड़ाते हुए चले जाते हैं।]

पृथ्वी०—इन सबमें मारवाड़के राजा ही सबसे बढकर समझदार हैं। अबकी एक बढ़िया कविता तैयार करनी चाहिए और उसका विषय होना चाहिए—विदाईका चुम्बन। कैसा सुन्दर विषय है, परन्तु वह कविता लिखी किस छन्दमें जाय? मैं तो समझता हूँ कि जब कोई कविता लिखने बैठता है तो उसके लिये सबसे अधिक कठिन काम छन्द चुनना ही होता है। कविताका आधेसे अधिक सौन्दर्य्य तो उसके छन्दपर ही निर्भर करता है।

[पृथ्वीराजकी स्त्री जोशीबाईका प्रवेश।]

पृथ्वी०—क्यों जी, तुम यहाँ बाहर क्यों चली आईं?

जोशी०—क्या आज तुम बादशाहके दरबारमें जाओगे?

पृथ्वी०—दरबारमें नहीं जाऊँगा तो और क्या करूँगा? आज बादशाह सलामतके दरबारका दिन है। और फिर मैं भी कोई ऐसा वैसा आदमी तो हूँ नहीं। भारतके सम्राट् अकबर बादशाहके दरबारका कवि हूँ। अब्बुलफजल हैं नम्बर एक और मैं हूँ नम्बर दो।

जोशी०—(कुछ करुणा दिखलाते हुए) हाय! इसमें भी अहंकार! जो बात सबसे अधिक लज्जाकी है उसीपर इन्हें इतना अभिमान है! (व्यंगसे) आप अकबर बादशाहके दरबारके कवि हैं! करम फूट गये!

पृथ्वी०—वाह ! तुममें तो खूब करुणारसका उद्रेक हो आया ! जानते हो, अकबर बादशाह कितने बड़े हैं ? आसमुद्रक्षितीशाणां ! सारा आर्यावर्त्त उनके सामने सिर झुकाये है !

जोशी०—छिः छिः तुम्हें यह कहते लज्जा भी नहीं आई ? तुम्हारे देश, तुम्हारी जन्मभूमिको मुगल पददलित कर रहे हैं और फिर भी यह बात कहते लज्जा और घृणासे तुम्हारी जबान नहीं रुकी ? तुम इतने पतित हो गये ? अभी तुम नहीं जानते कि सारा आर्यावर्त्त अकबरके सामने सिर नहीं झुकाता । अब भी इस आर्यावर्त्तमें प्रतापसिंह है ! अब भी यहाँ एक ऐसा आदमी है जो दासतासे मिलनेवाले विलासको तुच्छ समझता है और सम्राट्के सम्मानपर लात मारता है।

पृथ्वी०—हाँ, कविताकी दृष्टिसे तो यह बहुत बढ़िया भाव है। इसकी तो बहुत अच्छी उपमा दी जा सकती है। समुद्रकी प्रबल लहरोंके कारण सब गाँव और नगर आदि बह गये हैं—खड़ा है बहुत दूरपर एक अटल, अचल और दृढ़ पर्वत। पर सच्ची बात तो यह है कि न तो मैंने समुद्र ही देखा है और न उसकी प्रबल लहरें ही !

जोशी०—महल छोड़कर अपनी इच्छासे झोंपड़ीमें रहना, भोजपत्र पर भोजन करना और घास-फूसपर सोना,—जबतक चित्तौरका उद्धार न हो जाय तबतकके लिये अपनी इच्छासे लिया हुआ यह कठोर सन्यासव्रत कितना महत्त्वपूर्ण, कितना ऊँचा और कितना महिमामय है !

पृथ्वी०—यदि कविताकी दृष्टिसे देखा जाय तो यह एक बहुत ही अच्छा भाव है। और मैंने अभी जो उपमा दी है उसके साथ यह खूब मेल खाता है। देखो पहाड़ जिस प्रकार ऊँचा होता है उसी प्रकार यह भी ऊँचा है; पहाड़ जिस प्रकार कठोर होता है उसी

प्रकार यह भी कठोर है; और पहाड़ जिस प्रकार दरिद्र होता है उसी प्रकार यह भी दरिद्र है। यदि कविताकी दृष्टिसे देखा जाय तो दरिद्रता एक बहुत ऊँचे प्रकारका भाव है। परन्तु सांसारिक दृष्टिसे इसमें अधिक सुभीता नहीं है।

जोशी०—क्यों, सुभीता कैसे नहीं है?

पृथ्वी०—दरिद्रतामें विलास तो होता ही नहीं, ऊपरसे बहुत ही जरूरी चीजोंकी भी कमी बनी रहती है। जाड़ेमें व्यर्थ अधिक जाड़ा खाना पड़ता है। यदि भूख लगने पर खानेको न मिले तो मारे भूखके पेटमें चूहे कूदने लगते हैं। यदि कोई चीज मोल लेनेकी इच्छा हो—और संसारमें रहकर मनुष्यको कभी न कभी कुछ इच्छा होती ही है—तो फिर पासमें पैसा ही नहीं है। यदि घरमें लड़के-बाले हुए तो फिर दिनरात उनकी किच किच! तो फिर तुम्हीं बताओ कि सुभीता कैसे हुआ?

जोशी०—सुनो, जो अपनी इच्छासे दरिद्रताका व्रत लेता है उसके लिये दरिद्रता इतनी कठोर नहीं होती। उसे दरिद्रतामें एक ऐसी गरिमा—ऐसी सुन्दरता दिखाई देती है जो किसी राजाके मुकुटमें या सम्राट्के साम्राज्यमें भी नहीं होती। जिसका हृदय उच्च होता है उसको दरिद्रतासे डर नहीं लगता। उलटे वह दरिद्रतासे प्रेम करता है। वह दरिद्रतामें अपना सिर झुकाता नहीं बल्कि और भी ऊँचा करता है। वह दरिद्रतामें बुझ नहीं जाता बल्कि जल उठता है।

पृथ्वी०—पर कविताके क्षेत्रके बाहर दरिद्रताका सौन्दर्य देखना—कमसे कम यों ही खाली आँखोंसे देखना—किसीके भी भाग्यमें बदा नहीं होता।

जोशी०—तो फिर बुद्धदेव राज्य छोड़कर संन्यासी कैसे हो गये थे?

पृथ्वी०—भारी बेवकूफीसे। जिसका घर-बार न हो वह यदि रास्तेमें खड़ा होकर वर्षामें भींगे तब तो खैर ठीक है; पर जिसका घर-बार सब कुछ हो और वह इस प्रकार सड़कोंपर भीगता फिरे तो समझ लेना चाहिए कि उसका दिमाग जरूर खराब हो गया है। किसी अच्छे वैद्यको बुलाकर ऐसे आदमीका इलाज करा देना चाहिए।

जोशी०—यह पागलपन ही संसारमें धन्य होता है स्वामी! जो बड़ा होना चाहता हो उसे त्याग करना चाहिए।

पृथ्वी०—त्याग करना चाहिए? तो मैं बड़ा होनेसे बाज आया!

जोशी०—बड़ा होना तुम्हारे जैसे विलासीका काम नहीं है, यह मैं अच्छी तरह जानती हूँ। परन्तु फिर भी यदि किसीकी मातृ-भूमिका अपमान होता हो, और उसे दूसरे लोग पीड़ित करते हों तो उसकी रक्षा करनेकी चेष्टाका नाम 'महत्त्व' नहीं है—वह तो उसकी प्रत्येक सन्तानका कर्त्तव्य—केवल बहुत ही साधारण कर्त्तव्य है। खड़े होकर अपनी माताका अपमान देखना महत्त्वका अभाव नहीं प्रकट करता बल्कि मनुष्यत्वका अभाव प्रकट करता है।

पृथ्वी०—देखो, पहली बात तो यह है कि यदि स्त्रियाँ इस तरह गूढ़ संस्कृत भाषामें बातचीत करें तो उनके लिये "छोटा मुँह बड़ी बात" वाली कहावत चरितार्थ होती है तथा बहुत ही खटकती है और फिर यदि वे बिलकुल नैयायिकोंकी तरह तर्क करने लगें तब तो फिर बेचारे मर्दोंको देश छोड़कर भागनेकी नौबत आ जाय।

जोशी—मुट्ठी भर अन्न खाकर अपना पेट भर लेना और फिर आनन्दसे सोना—इतना काम तो साधारण पशु भी कर लेते हैं।

परन्तु यदि मनुष्य किसीके लिये कुछ स्वार्थत्याग न कर सकता हो, यदि अपनी माताके सम्मानकी रक्षाके लिये आवश्यकता पड़ने पर एक उँगली भी न उठा सकता हो तो फिर पशुओं और मनुष्योंमें अन्तर ही क्या रह गया ?

पृथ्वी०—देखो जोशी, अब तुम अन्दर जाओ। अब तुम्हारी बातें बहुत बढ़ चली हैं। तुम्हारी बातोंसे मेरा दिमाग भर गया; अब उसमें जगह नहीं रह गई। पहले जितना तुम अबतक कह चुकी हो उसे मैं हजम कर लूँ तब फिर और आगे बकना। जाओ।

(जोशी चुपचाप चली जाती है।)

पृथ्वी०—इसने तो बड़ा तंग किया ! मुझे हरा कर ही छोड़ा ! मैं उससे जीत ही नहीं सकता था ! मालूम होता था कि उसने मेरी सारी योग्यता धोकर बहा डाली ! एक तो स्त्रियाँ यों ही बातें करनेमें बहुत तेज होती हैं तिस पर जोशी तो उच्च शिक्षा पाई हुई स्त्री ठहरी ! फिर मैं उससे कैसे जीत सकता था ? इसी लिये तो मैं स्त्रियोंको अधिक शिक्षा देनेका विरोध किया करता हूँ। मारा, सब चौपट कर डाला।

(चिन्तित भावसे पृथ्वीराजका अपने घरसे बाहर निकल कर चले जाना।)

चौथा दृश्य।

स्थान—चित्तौरके पासका एक भयंकर निर्जन वन।

समय—प्रभात।

[अस्त्र-शस्त्र लिये हुए प्रतापसिंह अकेले उसी जंगलकी ओर देख रहे हैं।]

प्रताप—(बहुत देरके उपरान्त सूखे हुए कण्ठसे) अकबर ! तुमने मेवाड़को जीत तो अवश्य लिया, परन्तु फिर भी मेवाड़का शासन

मैं ही करता हूँ । इस विस्तृत देशको मैंने बिलकुल ही उजाड़ डाला । गाँवोंमें जितने लोग रहते थे उन सबको अपने पहाड़ी किलेमें खींच लाया । अकबर ! याद रखना, जब तक मैं जीता हूँ तब तक मेवाड़से एक कौड़ी भी तुम्हारे खजानेमें नहीं जा सकती । सारे देशमें मैंने कहीं दीआ जलाने तकको भी एक आदमी नहीं छोड़ा । सारा राज्य किस तरह भाँय भाँय कर रहा है । सारे देशमें स्मशानका सा सन्नाटा छाया हुआ है । खेतोंमें जंगली घास लहरा रही है । रास्तोंपर बड़े बड़े पेड़ उग आये हैं—चारों तरफ जंगल ही जंगल दिखाई देता है । पहले जिस स्थान पर मनुष्य रहा करते थे आज उसी स्थानपर जंगली पशु रहते हैं । जन्मभूमि ! सुन्दर मेवाड़ भूमि ! वीरप्रसविनी माता ! अब तो यही वेश तुम्हें बहुत अच्छा जान पड़ता है । इस समय इतना तो है कि मैं तुम्हें 'अपनी' कह सकता हूँ—तुमपर अपना अधिकार जतला सकता हूँ । रहे भूषण और अलंकार—सो मैं फिरसे अपने हाथों तुम्हारे पैरोंमें पहना दूँगा । और नहीं तो फिर तुम्हें यही स्मशानमें रहनेवाली तपस्विनीके भेषमें ही रहने दूँगा । माता ! आज तुम्हें मुगलोंकी दासी देखकर मेरा कलेजा फटा जाता है ।

[बोलते बोलते प्रतापसिंहका गला भर आता है । इतनेमें एक चरवाहेके साथ एक सैनिक आता है ।]

सैनिक—(अभिवादन करके) राणाजीकी जय हो !

प्रताप—क्या है ?

सै०—यह चरवाहा चित्तौर दुर्गके पास मेढ़ें चरा रहा था ।

प्रताप—(चरवाहेकी ओर तीव्र दृष्टिसे देखकर) क्यों यह बात ठीक है ?

चर०—हाँ राणाजी !

प्रताप—तुम मेरी आज्ञा नहीं जानते कि यदि मेवाड़ राज्यमें कोई खेत जोतेगा या भेड़ बकरी, गौ चरावेगा तो उसे प्राणदण्ड दिया जायगा ?

चर०—यह तो मैं जानता हूँ।

प्रताप—तब फिर तुम भेड़ें क्यों चराते थे ?

चर०—दुर्गके मुगल अफसरकी आज्ञासे।

प्रताप—अच्छा तो फिर अब वही आकर तुम्हीं बचावे भी। मैं तुम्हें प्राणादण्डकी आज्ञा देता हूँ।

चर०—यदि उन्हें समाचार मिलेगा तो वे अवश्य ही मेरी रक्षा करेंगे।

प्रताप—मैं स्वयं समाचार भेजता हूँ। सैनिक! इसे हथकड़ी-बेड़ी पहनाकर ले जाओ। एक सप्ताहके उपरान्त इसका वध किया जायगा। दुर्गके मुगल अधिकारीके पास मैं अभी समाचार भेजता हूँ। देखो सैनिक, वधके उपरान्त इसका सिर चित्तौरके दुर्ग-पथपर बाँसपर टाँग दिया जाय। जिसमें सब लोग देखें कि मेरी आज्ञा लड़कोंका खेल नहीं है। जिसमें लोग समझ लें कि यद्यपि मुगलोंने चित्तौरके दुर्गको जीत लिया है तो भी अबतक मेवाड़का राजा मैं ही हूँ, अकबर नहीं। जाओ, ले जाओ।

(चरवाहेके साथ सैनिकका प्रस्थान।)

प्रताप—बेचारे चरवाहे, तुम व्यर्थ इस विग्रहमें मारे गये। रावणके पापसे लंका नष्ट हो गई। दुर्योधनके पापसे महात्मा द्रोण, भीष्म और कर्ण मारे गये। तुम तो एक साधारण जीव हो। ये सब काम बहुत ही निष्ठुरताके होते हैं। परन्तु माता जन्म-भूमि! मैं केवल तुम्हारे लिये निष्ठुर हुआ हूँ। इसीलिये मैंने तुम्हारे सब

अलंकार उतार लिये हैं। प्रियतमा महाराणीको एक साधारण कुटीमें गृहलक्ष्मी बना दिया है। प्राणसे भी अधिक प्यारे पुत्र और कन्याओंको दरिद्रताके व्रतका अभ्यास कराया है, स्वयं सन्यासी हुआ हूँ—

[इस समय धनुर्धारी शक्तसिंहका बायीं ओर पड़े हुए हिंस्र पशुओंके कंकालोंकी ओर देखते देखते धीरे धीरे प्रवेश।]

प्रताप—देख आये?

शक्त०—हाँ भइया।

प्रताप—क्या देखा?

शक्त०—देखा कि वहाँ कोई नहीं है।

प्रताप—कोई मनुष्य नहीं है?

शक्त०—कोई नहीं है।

प्रताप—क्यों?

शक्त०—वहाँ कोई था ही नहीं जिससे कारण पूछता।

प्रताप—मन्दिरके पुरोहित कहाँ हैं? उन्होंने मुझे मुगलोंकी सेनाके आनेका समाचार दिया था।

शक्त०—वे तो अपने घरपर नहीं हैं।

प्रताप—तो फिर मेरा आना व्यर्थ हुआ।

शक्त०—व्यर्थ क्यों हुआ? यहाँ अनेक जंगली पशु हैं। आइए बाघका शिकार करें।

प्रताप—तो क्या बस अब बाघका शिकार ही रह गया?

शक्त०—नहीं तो और क्या किया जाय? ऐसा बढ़िया दिन, ऐसा सुन्दर जंगल और ऐसा भयानक निर्जन पथ। जब इस सुन्दरताको पूर्ण करनेके लिये रक्तकी आवश्यकता है, तब मनुष्यका रक्त न मिले तो फिर पशुका ही रक्त बहाया जाय।

प्रताप—विना किसी उद्देश्यके ही रक्त वहाया जाय ?

शक्त०—और कोई उद्देश्य नहीं हो तो केवल भालेका निशाना लगाना ही सही। भइया ! आज तो मैं यही देखूँगा कि भालेका अच्छा निशाना कौन लगाता है—आप या मैं ?

प्रताप—तो बस इतना ही प्रमाणित करना चाहते हो ?

शक्त०—हाँ। (स्वगत) देखूँ कि आप किस अधिकारसे मेवाड़के राणा हैं ? और मैं किस कारण आपकी कृपापर निर्भर रहनेवाला—आपका दिया अन्न खानेवाला हूँ ?

प्रताप—अच्छा चलो। आज यही देख लिया जाय। शिकारका शिकार होगा और अभ्यासका अभ्यास।

(दोनोंका वनसे प्रस्थान।)

[दृश्य बदलता है। एक और जंगल सामने आता है। प्रताप और शक्तसिंह एक मरे हुए वाघकी परीक्षा कर रहे हैं।]

प्रताप—यह बाघ मैंने मारा है।

शक्त०—नहीं, मैंने मारा है।

प्रताप—यह देखो मेरा भाला है।

शक्त०—यह मेरा भाला है।

प्रताप—यह मेर भालेसे मरा है।

शक्त०—नहीं मेरे भालेसे मरा है।

प्रताप—अच्छा चलो, इस जंगली सूअरपर निशाना लगावें।

शक्त०—बराबर बराबर दूरीपर रहकर निशाना लगाया जावे।

प्रताप०—अच्छी बात है।

(दोनोंका उस वनसे भी प्रस्थान।)

[फिर दृश्य बदलता है। नया जंगल सामने आता है।]

शक्त०—सूअर तो भाग गया।

प्रताप—तो फिर किसीका भाला नहीं लगा!

शक्त०—नहीं।

प्रताप—तो फिर कुछ भी प्रमाणित नहीं हुआ। आज रहने दो, देर हो गई। फिर किसी दिन देखा जायगा।

शक्त०—क्यों भइया, और किसी दिन क्यों? आज ही क्यों न देख लिया जाय?

प्रताप—वह किस प्रकार?

शक्त०—इस प्रकार कि हम लोग एक दूसरेपर भाला फेंकें।

प्रताप—हैं यह क्या?

शक्त०—क्यों, इसमें हानि ही क्या है?

प्रताप—नहीं नहीं, यह बात रहने दो। इसमें लाभ ही क्या है?

शक्त०—यदि लाभ नहीं है तो हानि ही क्या है? बहुत हुआ तो शरीरका थोड़ासा लहू बह जायगा। वर्म्म तो हम लोग पहने ही हैं। न आप मरेंगे और न मैं, तो फिर डर काहेका है?

प्रताप—मैं मरनेसे नहीं डरता शक्तसिंह।

शक्त०—नहीं नहीं भइया, आप भाला लीजिए। आज हम दोनों आदमी नररक्त लेनेके लिये घरसे निकले हैं। कमसे कम दो चार बूँद रक्त अवश्य बहना चाहिए। लीजिए, भाला लीजिए और फेंकिए। (चिल्लाकर) फेंकिए।

प्रताप—अच्छी बात है, फेंको।

शक्त—एक साथ ही फेंका जाय।

[दोनों जमीनपर अपनी अपनी तलवार रख देते हैं। इसके उपरान्त दोनों एक दूसरेपर भाला फेंकनेके लिए तैयार होते हैं। इतनेमें प्रतापके पुरोहित आकर दोनोंके बीचमें खड़े हो जाते हैं।]

पुरोहित—हैं! यह क्या! भाई भाईमें युद्ध! आप लोग शान्त होइए।

शक्त०—नहीं नहीं महाराज! आप दूर रहिए। नहीं तो आप ही मारे जायँगे।

पुरो०—मैं मृत्युसे नहीं डरता। आप लोग शान्त हों।

शक्त०—कभी नहीं। हम लोग मनुष्यका रक्त लेनेके लिये घरसे निकले हैं। हमें मनुष्यका रक्त चाहिए।

पुरो—आप नररक्त चाहते हैं? लीजिए मैं देता हूँ।

[इतना कहकर पुरोहितजी जमीनपर पड़ी हुई शक्तसिंहकी तलवार उठा लेते हैं और अपने कलेजेमें भोंककर जमीनपर गिर पड़ते हैं।]

प्रताप—हैं गुरुदेव! आपने यह क्या किया?

पुरो०—कुछ नहीं। मैंने आप लोगोंको केवल शान्त करनेके लिये ऐसा किया है। आप लोग कभी भाई भाईमें विवाद न करें। इसीसे देशका नाश हुआ है। अब देशका और नाश न कीजिए।

(पुरोहितकी मृत्यु।)

प्रताप—शक्त, तुमने यह क्या किया?

शक्त०—(घबराकर) सचमुच मैंने क्या किया!

प्रताप—शक्त, तुम्हारे ही कारण यह ब्रह्महत्या हुई। मैंने सुना है कि तुम्हारी जन्मपत्रीमें लिखा है कि तुम्हीं एक न एक दिन मेवाड़का सर्वनाश करोगे। आजतक मुझे उस बातपर विश्वास नहीं था। परन्तु आज मुझे विश्वास हो गया।

शक्त०—क्या कहूँ ! मेरे कारण एक ब्राह्मणकी हत्या हो गई !

प्रताप—मैंने देखा था कि तुम्हें कहीं आश्रय नहीं मिलता, इसी कारण तुम्हें मैं आदरसे मेवाड़में ले आया था । परन्तु तुम मेवाड़का सर्वनाश करनेवाले हो । मैं तुम्हें मेवाड़में नहीं रख सकता । इसी समय तुम मेरे राज्यसे निकल जाओ ।

शक्त०—बहुत अच्छी बात है ।

प्रताप—जाओ, अब मैं इनके संस्कारका प्रबन्ध करूँगा । और तब प्रायश्चित्त करूँगा । तुम जाओ ।

(दोनोंका दोनों ओर प्रस्थान ।)

पाँचवाँ दृश्य ।

स्थान–अम्बरके राजप्रसादका एक बरामदा ।

समय—तीसरा प्रहर ।

[मानसिंहकी बहन रेवा अकेली इधर उधर टहल रही है और धीरे धीरे गा रही है ।]

गीत ।

अरे तुम जानते हो वह कहाँ है, सदा जो चाहता मुझको रहा है।
हमारे प्राणसे मिलकर भला जो, सदा आशावरीसी गा रहा है॥
निशामें अर्द्धनिद्रामें उषामें, मधुर स्वरसा सुनाई दे रहा है।
कभी आता हृदय-सिकता किनारे, लहर सा फिर चला जाता रहा है॥
वसन्तीवायुमें सौरभ सदृश जो, कभी आ प्यार कर जाता रहा है।
कभी जब चाहता हूँ अंक भरना, सुमनमें चन्द्रमें छिपता रहा है॥

[रेवाकी बुड्ढी दासीका प्रवेश ।]

दासी—बेटी, तुम भी खूब निकलीं !

रेवा—क्यों ?

दासी—तुम यहाँ मजेमें हवा खा रही हो और मैं सारे महलमें तुम्हें ढूँढ़ आई।

रेवा—क्यों, तुम्हें मेरी क्या जरूरत थी ?

दासी—क्या जरूरत थी ? तुम कहती हो मेरी क्या जरूरत थी ? लोग कहा करते हैं कि जिसका व्याह उसको तो खबर ही नहीं और पास-पड़ोसको नींद ही नहीं आती। तुम कहती हो मेरी क्या जरूरत है ? तुम्हारे व्याहकी बातचीत आई है और तुम्हारी कोई जरूरत ही नहीं ? तुम्हारी जरूरत नहीं है तो क्या मेरी जरूरत है ? वाह तुम भी कैसी बातें करती हो! मेरा व्याह होनेको था वह तो एक बार हो गया। औरतोंका व्याह क्या दो दो बार हुआ करता है ? अगर ऐसा ही होता तो फिर और किस बातकी चिन्ता थी ? और फिर इस उमरमें मेरे साथ व्याह ही कौन करेगा ? बेटी, जब मेरा व्याह हुआ था तब तुम्हारा जन्म भी नहीं हुआ था। और फिर मैं ही कौन उस समय बहुत बड़ी थी! ग्यारहवाँ बरस भी पूरा नहीं हुआ था। बस यही ग्यारहवाँ लगा था।

रेवा—अच्छा तुम जाओ। यहाँ आकर व्यर्थ बकबक करनेकी जरूरत नहीं। तुम जाओ।

दासी—लोग कहते हैं कि जिसके लिये चोरी करो वही कहे चोर। मैं तो आई तुम्हारे व्याहकी बातचीत लेके, मैंने समझा था कि तुम सुनते ही उछल पड़ोगी और मेरा मुँह चूम लोगी, सो उलटे तुम मुझे दुरदुराने लगीं। आज मैं बुड्ढी हो गई हूँ, इस लिये क्या तुम मुझे बात बातपर दुरदुराने लगोगी ? मैं आज बुड्ढी हुई हूँ,

कुछ हमेशा तो बुड्ढी थी ही नहीं । किसी समय में भी जवान थी। मेरी भी बड़ी बड़ी आँखें थीं, फूले फूले गुलाबी गाल थे और गठन भी कुछ ऐसी बुरी नहीं थी । उस समय मेरा आदमी मेरी भी कितनी खुशामदें किया करता था । एक दिन उसने बड़े आदरसे मुझे बुलाकर—

रेवा—तुमसे यह सब हाल कौन पूछता है ? जाओ, दिक मत करो, नहीं तो अच्छा न होगा ।

दासी—वाह ! बेटी, तुम भी कैसी बातें करती हो ? मैं चली कैसे जाऊँ ? तुम्हें बुलाने आई हूँ । तुम्हारी माँने तुम्हें बुलाया है। पर फिर उन्होंने कहा था कि "नहीं बुलानेकी जरूरत नहीं है।" वे व्याहकी बात सुनते ही आग बबूला हो गईं । मैं चली आई । तुम जानती हो, वर बीकानेरके राजा रायसिंह हैं। हा हा हा ! वह कम्बख्त साठ बरसका बुड्ढा जिसके तीन पन निकल गये हैं, एक रहा है । देखनेमें बन्दरकी तरह, न अच्छा रूप न अच्छा यौवन ।

रेवा—तो फिर अब मेरी जरूरत नहीं है, तुम जाओ ।

दासी—जरूरत कैसे नहीं है ! वाह जी वाह ! तुम भी कैसी बातें करती हो ! अभी तुम्हारे पिताजीसे तुम्हारी माँका इसी बात पर तो बड़ा भारी झगड़ा हो गया था । ऐसा झगड़ा जैसा आजतक किसीने देखा ही नहीं था । बस पूरा महाभारत हो गया, महाभारत ! तुम्हारा घर कुरुक्षेत्र बन गया !

रेवा—हैं !

दासी—हाँ हाँ, बड़ा झगड़ा हुआ था । परन्तु मारपीट नहीं हुई थी । तौ भी—

रेवा—तौ भी क्या ?

दासी—बस तुममें यही बड़ा दोष है कि तुम अपनी ही बातें करती हो, दूसरेकी नहीं सुनतीं। तब भला मैं क्या कहूँ ? तुम्हारी माँने कहा था कि मैं ऐसे बुड्ढेको अपनी बेटी नहीं व्याहूँगी। इस पर तुम्हारे पिताजीने कहा था कि हाँ ठीक ही है, ऐसे बुड्ढेको लड़की देना ठीक नहीं। इसी लिये वे इस व्याहके बारेमें मानसिंहको चिट्ठी लिखने बैठे हैं।

रेवा—तो वे कुछ बिगड़े तो नहीं न ?

दासी—बिगड़े तो नहीं, परन्तु फिर भी मरद ही ठहरे। उनको बिगड़ते कितनी देर लगती है ? मेरा आदमी भी एक दिन इसी तरह बिगड़ खड़ा हुआ था। फिर उसने कैसी कैसी आँखें लाल कीं। मैंने उसको बहुत समझाया कि भाई बिगड़ो मत, नहीं तो तुम्हारी तबियत खराब हो जायगी। इतनेमें रामसिंह पाँड़े आये और किसी तरह हाथ पकड़कर उसे खींच ले गये तब कहीं जाकर जान बची। नहीं तो उसी दिन हमारे घरमें महाभारत मच जाता। इसके बाद फिर मेरे आदमीने आकर मेरी बड़ी खुशामद की। वह मेरी जितनी बातें जानता था वे सब कह कहकर मेरे पैर पकड़ता था और मुझे मनाता था। तब कहीं जाकर बड़ी कठिनतासे मैं मानी। इसके बाद फिर एक दिन—

रेवा—तुमने तो मुझे दिक कर डाला। अब तुम यहाँसे हटोगी नहीं ?

दासी—वाह ! मैं हटने क्यों लगी ? तुम्हें अपने सुख दुखकी दो चार बातें सुनाने आई थी, पर तुम मुझे तुच्छ समझकर मार मारकर दुरदुरा रही हो। (रोने लगती है।)

रेवा—अरे मैंने तुझे मारा कब ?

दासी—नहीं बेटी, तुमने मुझे नहीं मारा बल्कि मैंने तुम्हें मारा है। जाकर महाराजसे कहो, महारानीसे कहो कि मैंने तुम्हें मारा है। इतने दिनोंतक तुम्हें गोदमें खिलाकर बड़ा किया। तुम्हारी नौकरी करते करते मैं बुड्ढी हो गई। अब क्या है! तुम मुझे मार कर और गालियाँ देकर निकाल दो। मैं गलियोंमें मारी मारी फिरूँ और भूखों मरूँ! अब न तो मेरा आदमी ही है न मेरी जवानी। अगर तुम्हारे धर्ममें यही आता है तो तुम मुझे निकाल दो। जब तुम जरा सी बच्ची थीं तब मैंने तुम्हें गोदमें खेला खेलाकर इतना बड़ा किया था। एक दिन जब तुम बहुत छोटी थीं तब मैं तुम्हें चोरीसे रास दिखलाने ले गई थी। यह सुनते ही महाराजने मेरी जो दुर्दशा की थी वह मैं ही जानती हूँ। बस एक गर्दन मारना बाकी रक्खा था। कहते थे कि इसे लेकर भीड़में क्यों गई? इसपर मैंने कहा था—

नेपथ्यमें—रेवा, रेवा!

दासी—यह लो सुनो।

रेवा—आती हूँ। (रेवाका प्रस्थान।)

दासी—(थोड़ी देरतक चुपचाप बैठी रहती है। इसके उपरान्त उठकर कहती है) अच्छा अब मैं चलूँ। और किसीके साथ बकूँगी।

छठा दृश्य।

स्थान—आगरेमें अकबरका मंत्रणागृह।

समय—प्रभात।

[अकबर और शक्तसिंह एक दूसरेके सामने खड़े हैं।]

अक०—आप राणा प्रतापसिंहके भाई हैं?

शक्त०—जी हाँ।

अक०—यहाँ आपका आना किस इरादेसे हुआ है?

शक्त०—मैं मुगल सेना लेकर राणापर चढ़ाई करना चाहता हूँ। राणाको मुगलोंके पैरों पर गिराना चाहता हूँ और राणाकी सेनाके रक्तसे मेवाड़की भूमि रँगना चाहता हूँ।

अक०—इससे मुगलोंका क्या फायदा होगा? मेवाड़से तो आजतक एक कौड़ी भी हमारे खजानेमें नहीं आई।

शक्त०—अगर आप राणाको जीत लेंगे तो बहुतसा माल सरकारी खजानेमें आ जायगा। राणाकी आज्ञासे आजकल मेवाड़में खेती-बारी बिलकुल नहीं होती। नहीं तो मेवाड़की जमीनमें तो सोना फलता है। उस दिन एक चरवाहेने चित्तौरके किलेके किलेदारके हुक्मसे मेवाड़में कहीं भेड़ें चराई थीं। राणाने उसकी गरदन कटवा डाली।

अक०—(चिन्तित भावसे) हूँ! अच्छा तो आप हमारी क्या सहायता करेंगे?

शक्त०—मैं राजपूत हूँ। लड़ना-भिड़ना जानता हूँ। राणासे लड़ूँगा। मैं राजपूत हूँ, सेनाका परिचालन करना जानता हूँ। राणा-पर मुगल-सेना लेकर चढ़ाई करूँगा।

अक०—इससे आपका क्या लाभ होगा?

शक्त०—बदला चुकेगा।

अक०—बस इतना ही?

शक्त०—जी हाँ, इतना ही।

अक०—यदि आपको फौज दी जाय तो आप प्रतापसिंहको जीत सकते हैं?

शक्त०—मुझे पूरा विश्वास है कि मैं जीत सकता हूँ। मैं प्रता-पसिंहका सैनिक बल जानता हूँ, युद्ध-कौशल जानता हूँ, अभिसन्धि जानता हूँ और सेनाके परिचालनकी रीति जानता हूँ। प्रताप भी योद्धा हैं, मैं भी योद्धा हूँ। प्रताप भी क्षत्रिय हैं, मैं भी क्षत्रिय हूँ। प्रताप भी राजपूत हैं, मैं भी राजपूत हूँ। बात केवल इतनी है कि प्रताप-सिंह बड़े हैं और मैं छोटा हूँ। एक दिन प्रसंग पड़नेपर प्रतापसिंहके ही पुत्र अमरसिंहने कहा था कि केवल बड़े होनेसे ही कोई श्रेष्ठ नहीं हो जाता। उसी दिनसे वह बात मेरे कलेजेमें तीरकी तरह लगी है। और अब वह बात मुझे बिलकुल ठीक जान पड़ती है।

अक०—हूँ:!

(इतना कहकर जमीनकी ओर देखते हुए कुछ समय तक इधर उधर टहलना।)

अक०—कोई हाजिर है?

[द्वारपालका आकर अभिवादन करना।]

अक०—महाराज मानसिंहको जाकर सलाम दो।

द्वारपा०—जो हुक्म खुदावन्द ! (प्रस्थान।)

अक०—मैंने सुना है कि राणा प्रतापसिंहने आपके साथ वहुत कुछ भलाई की है।

शक्त०—भलाई कैसी ?

अक०—नहीं ? तो फिर मैंने गलत सुना है। क्या आजतक प्रतापसिंहने आपके साथ कोई उपकार नहीं किया है ?

शक्त०—किया है। जव मेरे पिता उदयसिंहने एक वार मेरे वधकी आज्ञा दी थी—

अक०—(आश्चर्यसे) हैं ! क्या आपके पिताने आपके वधकी आज्ञा दी थी ?

शक्त०—जी हाँ, सुनिए, मैं सव इतिहास वतलाता हूँ। जिस समय मैं पाँच वरसका था तव एक दिन मैंने एक वड़ा छुरा देखा। उसकी धारकी परीक्षा करनेके लिये मैंने उसे अपने हाथमें मार लिया। मेरी जन्मपत्रीमें लिखा है कि मैं किसी दिन अपनी जन्मभूमिके साथ द्रोह करूँगा और उसका नाश करूँगा। पिताजीने जव देखा कि मैंने छुरा लेकर निःसंकोच भावसे अपने हाथमें मार लिया, उस समय उन्होंने निश्चय कर लिया कि मेरी जन्मपत्रीमें लिखी हुई वात ठीक है। और मेरे द्वारा सारे दुःसाध्यका कार्य साध्य हो सकते हैं। उसी दिन उन्होंने मेरे वध करनेकी आज्ञा दी थी।

अक०—ताज्जुव है !

शक्त०—क्यों, आपको ताज्जुव क्यों होता है ? क्या आप उन्हें अच्छी तरह नहीं जानते ? जिस समय चित्तौरका किला घेरा गया था उस समय यदि वे कायरोंकी तरह भाग न जाते तो चित्तौरका भाग्य-सूर्य्य कभी अस्त न होता।

अक०—चित्तौर राजपूतोंके हाथसे निकलकर मुगलोंके हाथमें आ गया, क्या यह चित्तौरका सौभाग्य नहीं है ?

शक्त०—वह कैसे ?

अक०—मैं तो समझता हूँ कि आप खुद ही यह बात मंजूर करेंगे कि जंगली राजपूत लोग राज्य चलाना नहीं जानते ।

शक्त०—मैं यह तो नहीं जानता कि राजपूत लोग जंगली हैं या मुसलमान, मगर मैंने आजतक किसी जातिको यह कहते नहीं सुना कि हम जंगली हैं ।

अक०—अगर ऐसा न होता तो हिन्दुओंपर मुगल हुकूमत क्यों करते ?

शक्त०—भला जो रोमन जाति इतनी सभ्य थी उसे जंगली गथ लोगोंने कैसे हरा दिया ?

अक०—रोमन लोग धर्मको भूल गये थे इसलिये हार गये ।

शक्त०—और गथ लोग क्या धार्मिक थे, इस कारण उन्होंने रोमनोंको जीता था? बात यह है कि संसारमें सदा धर्मकी ही जीत नहीं होती । यदि सदा अधर्मकी ही हार होती तो अबतक संसारमें कहीं अधर्मका नाम रह ही न जाता । यदि ऐसा ही होता तो आज संसारके तीन चौथाई भागमें अधर्म ही अपना अधिकार जमाये हुए न दिखाई देता । और फिर देखिए कि आजकल इस हिन्दोस्तानमें ही अधर्म्म अपनी उचित सीमाको छोड़कर सभ्यताके राज्यमें आ पहुँचता है और उसकी सब प्रकारकी दुर्दशा कर डालता है। परन्तु शास्त्र फिर भी यही विश्वास करनेको कहता है कि इस संसारका सारा कारोबार एक सर्वशक्तिमान् न्यायवान् और दयामय ईश्वरके हाथमें है ।

अक०—(स्तंभित होकर, बात बदलनेके लिये) अच्छा तो आप अपना इतिहास सुनाइए। जब आपके पिताने आपके वधकी आज्ञा दे दी तब फिर क्या हुआ ?

शक्त०—घातक लोग मुझे वध्यभूमिमें ले जा रहे थे। इतनेमें सलुम्बरके महाराज गोविन्दसिंहजीसे मेरी भेंट हुई। वे किसी समय मुझपर बड़ी कृपा रखते थे। इसीसे वे मुझे अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे। राणाजीके पास जाकर उन्होंने मुझे बचा दिया। जब सलुम्बरके महाराजने मेरा पालन पोषण करके मुझे पोष्य पुत्र बना लिया तब उन्हें एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उस समय मेवाड़के राणा प्रतापसिंह थे। उस समय सलुम्बरके महाराजके कहनेसे राणाजी मुझे अपनी राजधानीमें ले आये थे और वहाँ मुझे अच्छे आदरसे रखा था।

अक०—यह जानते हुए भी कि किसी न किसी दिन आप मेवाड़का सर्वनाश करेंगे ?

शक्त०—हाँ, यह जानते हुए भी।

अक०—परन्तु आपने तो अभी यह कहा था कि आपके साथ प्रतापसिंहने कोई उपकार नहीं किया।

शक्त०—उपकार कैसा ? मैं अन्यायके कारण अपनी जन्मभूमि, अपने राज्य और अपने स्वत्वसे वंचित किया गया था। प्रतापसिंह मुझे राज्यमें ले आये थे, यह उन्होंने कुछ न्याय किया था। इसमें उपकारकी कौनसी बात थी ? और मैं उनका कृतज्ञ क्यों होता ? और फिर मेरा अधिकार भी तो मुझे नहीं मिला था। वे किस अधिकारसे मेवाड़के सिंहासनपर बैठ गये, और मैं उनकी आज्ञाका पालन करनेवाला सेवक बन गया ? वे और मैं दोनों एक ही पिताके पुत्र हैं न ? हाँ वे बड़े हैं और मैं छोटा हूँ। परन्तु केवल बड़ा होनेसे ही कोई

श्रेष्ट नहीं हो सकता । हम लोग एक दिन इसी बातकी परीक्षा करने गये थे कि हम दोनोंमें कौन श्रेष्ट है । परन्तु सहसा एक ब्रह्महत्या हो जानेसे यह बात प्रमाणित न हो सकी । अगर प्रतापसिंह यह बात प्रमाणित कर देते कि वे मुझसे श्रेष्ठ हैं और तब मुझे राज्यसे निकालते तो मुझे कुछ भी दुःख न होता । परन्तु विना इस बातको प्रमाणित किये, जब उन्होंने मुझे अपने राज्यसे निकाल दिया तो अन्याय ही किया । अब मैं उसी अन्यायका बदला लेना चाहता हूँ ।

अक०—(कुछ मुस्कराकर) प्रतापसिंह आपका विश्वास तो करते हैं न ?

शक्त०—हाँ, करते हैं ।

अक०—तो आप फिर उन्हें यों ही धोखेसे क्यों नहीं पकड़वा देते ? व्यर्थ लड़ने भिड़नेकी क्या जरूरत ?

शक्त०—जी, यह तो मुझसे नहीं हो सकता। अगर यही बात है तो वन्दा रुखसत होता है ।

अक०—क्यों, इसमें हर्ज ही क्या है ? अगर विना लड़े-भिड़े और खून वहाये काम निकल आवे तो फिर लड़ने भिड़ने और खून बहानेकी क्या जरूरत ?

शक्त०—आप लोग सभ्य मुसलमान ठहरे । आपको ये सब दाँव-पेंच शोभा देते हैं । हम लोग ठहरे जंगली राजपूत ! हम लोग जिससे मेल करते हैं उसे जी भरकर गलेसे लगाते हैं और जिससे दुश्मनी करते हैं उसपर सीधी तलवार चलाते हैं । हम लोग ऊपरसे मिलकर और अन्दरसे छुरी चलाना नहीं जानते । राजपूत मेल-मिलापके समय भी राजपूत रहते हैं और बदला लेनेके समय भी राजपूत ही रहते हैं । अवश्य ही धर्मपर मेरा विश्वास नहीं है, मैं ईश्वरको भी

नहीं मानता और साम्राज्यका द्रोही हूँ, फिर भी मैं राजपूत हूँ। जो काम राजपूतोंको शोभा न दे वह मुझसे नहीं हो सकता।

अक०—परन्तु मानसिंह तो ऐसी बातोंमें आगा-पीछा नहीं करते! क्षत्रियोंमें वही एक ऐसे हैं जो होशयारीसे लड़ना-भिड़ना जानते हैं। उनकी आधी जीत तो सिर्फ होशियारीसे होती है। वे बहुतसे अवसरों-पर अपना सैनिक बल दिखलाते हैं परन्तु उसका प्रयोग बहुत कम करते हैं।

शक्त०—वे ऐसा क्यों न करेंगे! अगर वे ऐसा न करते तो फिर वे मुगलोंके सेनापति क्यों होते? उनकी जगहपर मैं ही मुगलोंका सेनापति न हो जाता!

अक०—आखिर वे भी तो राजपूत ही हैं!

शक्त०—हाँ, मैंने सुना है कि उनकी माँ राजपूत थीं और उनके बाप भी राजपूत थे!

(शक्तसिंहका यह व्यंग्य अकबर समझ लेते हैं परन्तु यह प्रकट नहीं होने देते कि मैंने व्यंग्य समझ लिया।)

अक०—तो फिर?

शक्त०—तो फिर यही कि जिस प्रकार खट्टे आमके वृक्षके कोई कोई आम करके उतर जाते हैं, मानसिंह राजपूत होनेपर भी उसी प्रकार उतर गये हैं। और फिर—(बोलते बोलते रुक जाना।)

अक०—और फिर क्या?

शक्त०—और फिर यही कि वे शाहंशाहके सालेके लड़के ठहरे और मैं शाहंशाहका कोई नहीं। उन्होंने शाहंशाहके साथ बहुत सा पुलाव और कोरमा खाया है, तो क्या शाहंशाहका उनपर कोई असर न होगा?

कौड़ी कौड़ी अदा कर लेना चाहता है। वह धर्मको तो नहीं मानता, परन्तु अपनी जातिका उसे बड़ा अभिमान है।

मान०—तो फिर इस समय हुजूरका क्या हुक्म होता है ?

अक०—क्या आपने सुना है कि प्रतापसिंहने एक मुगल चरवाहेको सूलीपर चढ़वा दिया है ?

मान०—जी नहीं, मैंने तो नहीं सुना।

अक०—क्या आपने यह भी सुना है कि उन्होंने तीन वार हमला करके मुगलोंकी तीन फौजें बिलकुल साफ कर दीं ?

मान०—जी हाँ, यह तो सुना है।

अक०—अब कबतक यह पागल शेर इसी तरहसे खुला हुआ घूमता रहेगा ? उसपर हमला करनेका इससे अच्छा और कोई मौका नहीं मिल सकता। आपकी क्या राय है ?

मान०—मैंने तो सोचा था कि जब मैं शोलापुरसे लौटूँगा तब उधरसे रास्तेमें प्रतापसिंहसे मुलाकात करता आऊँगा। अगर यों ही किसी तरीकेसे अगर वे फन्देमें फँस सकें और फजूल खून बहानेकी नौबत न आवे तो बहुत ही अच्छी बात है। और नहीं तो फिर लड़ाई तो होगी ही।

अक०—बहुत अच्छी बात है। आपकी राय बहुत माकूल है। ऐसा ही होना ठीक है। आप शोलापुर कब जायँगे ?

मान०—परसों सवेरे।

अक०—बहुत अच्छी बात है। मैं एक जरूरी कामकी वजहसे आपको यहीं अकेले छोड़ जाता हूँ।

मान०—जो हुक्म। (अकबरका प्रस्थान।)

मान०—मैं तो इसके लिये विलकुल तैयार ही होकर आया था। रेवाके व्याहके लिये पिताजी मुझे वार वार लिखते हैं। मैं चाहता हूँ कि प्रतापसिंहके वड़े लड़के अमरसिंहके साथ उसके व्याहकी वातचीत छेड़ूँ। अगर वे मंजूर कर लें तो वहुत अच्छी वात हो। देखूँ, इस कलंकित अम्वर-वंशको किसी प्रकार मेवाड़के निष्कलंक वंशसे संवन्ध करनेके कारण विशुद्ध कर सकता हूँ या नहीं। हम सव लोग पतित हैं। इस कलंकित विशाल राजपूतकुलमें केवल एक प्रतापकी ही निष्कलंक और शुभ्र पताका उड़ रही है। प्रतापसिंह! तुम धन्य हो।

(प्रस्थान ।)

सातवाँ दृश्य ।

स्थान—आगरेमें अकवरके महलका वाग ।

समय—दोपहर ।

[अकवरकी कन्या मेहरुन्निसा अकेली एक वृक्षके नीचे माला वना रही है और गा रही है ।]

गीत ।

वैठि विजन वन विछाय अंचल अपने मनसे हार वनाती ।
वड़ी साधसे पहिनानेको अपने गले, उसे पा जाती ।
अपने मनको तुष्ट वनाने अपने गीत स्वयं हूँ गाती,
अपने मनसे खेल खेलती, अपने ही को साथी पाती ।
अपने मनसे रोती हँसती, अपनेहीको प्यार कराती ।
आदर करती, मान कराती, रात-दिवस इसमें सुख पाती ।

[इतनेमें अकवरकी भानजी दौलतुन्निसाका दौड़ते हुए आना ।]

दौलत—मेहर, मेहर ! यह देखो, एक कबूतरोंका झुण्ड उड़ा चला जा रहा है ।

मेहर—वाह कबूतरोंका झुण्ड उड़ा चला जाता है तो इसमें ताज्जुबकी कौनसी बात है ? मैं उसमें क्या देखूँ ?

(फिर गाने लगती है ।)

दौलत—वाह जो बात ताज्जुबकी न हो उसे क्या देखना ही न चाहिए ? भला दुनियामें ताज्जुबकी बातें या चीजें कितनी हैं ?

मेहर—ताज्जुबकी चीजें ? दुनियामें ताज्जुबकी बहुतसी चीजें हैं ।

दौलत—जरा हम भी सुनें ।

मेहर—(हाथसे माला रखकर गम्भीर भावसे) अच्छा तो सुनो । पहले तो देखो यह दुनिया ही ताज्जुबकी चीज है । न इसे काम है न धन्धा, न जरूरत है न गरज, दिनरात सूरजके चारों तरफ घूमती रहती है और कोई नहीं जानता कि यह क्यों घूमती है । इसके बाद आदमी भी एक ताज्जुबकी चीज है । पहले तो वह मांसका लोथड़ा होकर जन्म लेता है। इसके बाद कितने ही दिन वह दुनियाकी लहरोंमें इधर उधर मारा मारा फिरता है । और तब आखिरमें एक न एक दिन कहीं न कहीं जाकर डूब मरता है। फिर कोई उसे ढूँढ़कर निकाल नहीं सकता । कंजूस लोग रुपया जमा करते हैं मगर वे उसका मजा नहीं उठाते; क्या यह कम ताज्जुबकी बात है ? अमीर लोग अपनी दौलत यों ही बरबाद कर देते हैं और पीछेसे गलियोंमें भीख माँगते फिरते हैं; क्या यह उससे भी बढ़कर बात नहीं है ? और फिर अक्ल रहते हुए भी आदमी ब्याह करके अपने आपको जंजीरोंसे बाँध लेता है । अब न तो वह अच्छी तरह खा-पहन सकता है और न हाथ-पैर हिला सकता है; क्या यह कम ताज्जुबकी बात है ?

दौलत—और औरतें जो वेवकूफी करके व्याह करती हैं; यह भी तो ताज्जुबकी ही बात है न ?

मेहर—इसमें क्या शक ? उनकी किस्मतमें खाने पहननेके लिये किसी तरहकी फिक्र करना बदा ही नहीं होता। ऐसी हालतमें अगर मैं इतने बड़े बादशाहकी लड़की होकर किसी और आदमीके पैरोंमें जा पड़ूँ तो यह भी एक ताज्जुबकी ही बात होगी। मैं यहाँ खूब अच्छी तरह खाती पहनती हूँ, अगर ऐसी हालतमें भी मैं किसीसे व्याह कर लूँ तो इसमें कोई शक नहीं कि मेरे इलाजकी जरूरत होगी।

दौलत—तो क्या यह तुम पक्का इरादा कर बैठी हो कि व्याह न करोगी ?

मेहर—यह तो मैंने पक्का इरादा कर लिया है कि मैं व्याह नहीं करूँगी, मगर मैं बैठी नहीं हूँ।

दौलत—इसका क्या मतलब ?

मेहर—इसका क्या मतलब ! यही कि एक तो अभीतक मेरा व्याह नहीं हुआ है और दूसरे मुझे न कोई काम है और न धन्धा है। ऐसी हालतमें जो कुछ हुआ करता है वही करती हूँ। सोती हूँ, बैठती हूँ, उठती हूँ, घूमती हूँ, फिरती हूँ, जँभाइयाँ लेती हूँ और अँगुलियाँ तोड़ती हूँ। यों तो मैं कहने सुननेको कुँआरी हूँ मगर फिर भी पड़ी पड़ी उमरखय्याम पढ़ती हूँ और चित्त-चकोरके चेहरेको छतकी कड़ियोंमें चित्रित किया करती हूँ। साथ ही जब मौका मिलता है तो आलसको धता वताकर दुनियाका रंगढंग भी देख लेती हूँ और मन ही मन यह सोचा करती हूँ कि अपने मनके मुताविक भी कोई मर्द हो सकता है या नहीं। (सिर झुकाकर मुस्कराती है।)

दौलत—तुम सिर्फ सोचा ही करती हो या कुछ तै भी करती हो? तुम्हें अपनी पसन्दका कोई मर्द मिला भी ?

मेहर—(गम्भीरतासे) भाई तुम्हारा यह पूछना ठीक नहीं है। अगर मुझे अपनी पसन्दका कोई मर्द मिलं भी जायगा तो मैं तुमसे कहने आऊँगी ?

दौलत—कहोगी क्यों नहीं ? मैं तुम्हारी वहन और दिली दोस्त ठहरी—

मेहर—देखो दौलत, तुम्हारी दोस्ती मेरे मौटे मांसको भेदकर कुछ अन्दर तो जरूर पहुँची है मगर वह हड्डियोंमें नहीं भीनी है और यह बात हड्डियोंमें भीननेकी है—अगर इस बदनके अन्दर कोई और बदन हो तो उसकी है। इसीलिये मैं तुमसे साफ साफ यह बात नहीं कह सकती। लेकिन फिर भी अगर तुम मुझे बहुत ज्यादा तंग करो और धरो पकड़ो तो मैं तुम्हें अपने दिल चुरानेवालेकी शक्ल इशारेसे कुछ कुछ बतला सकती हूँ।

दौलत—अच्छा ऐसा ही सही। तुम कहो, शायद मैं तुम्हारे दिलबरको पहचान सकूँ।

मेहर—अच्छा तो सुनो। मैं बतलाती हूँ कि मेरे चितचोरकी शक्ल कैसी है। नाक—है। कान—मैंने बहुत अच्छी तरह तो नहीं देखे लेकिन फिर भी होंगे जरूर। वह जब हँसता है तब मोती चाहे झड़े चाहें न झड़ें मगर दाँत जरूर बाहर निकल आते हैं। अगर वह सचमुच कभी रोने लगे तो न तो उस रोनेसे उसकी कुछ खूब सूरती बढ़ती है और न यही मालूम होता है कि वह गा रहा है। मैंने अपने प्यारेके चेहरेका नकशा इतना तो तुम्हें बतला दिया अब बाकी तुम अपने मनसे समझ लो।

दौलत—बस मैंने बिलकुल समझ लिया। सच तो यह है कि तुम्हारा प्यारा मुझे बिलकुल आँखोंके सामने दिखलाई दे रहा है।

मेहर—तुम उसे देखो तो सही, मगर बहन, कहीं ऐसा न हो कि तुम भी उससे मुहब्बत करने लग जाओ। और अगर तुम उससे मुहब्बत करने भी लगोगी तो भी कोई ऐसा बहुत ज्यादा हर्ज नहीं होगा। क्योंकि तुम देखती ही हो कि खुद बादशाह सलामतके महलमें सौ से ज्यादा बेगमें हैं। लेकिन फिर भी अगर तुम उससे मुहब्बत न करोगी तो बात बहुत कुछ सीधी हो जायगी।

[अपने कपड़ोंको झाड़ते हुए धीरे धीरे शाहजादा सलीमका आना।]

सलीम—मेहर, तुम यहाँ क्या कर रही हो ?

मेहर—यही दौलत कह रही थी कि दुनियामें ताज्जुबकी जितनी चीजें हैं उन सबकी एक फेहरिस्त मुझे दो। बस मैं वही फेहरिस्त इसे सुना रही थी।

सलीम—भला मैं भी वह फेहरिस्त सुनूँ।

मेहर—अब मैं फिरसे कहूँ। दौलत, जरा तुम्हीं बतला दो। तुम्हें तो सब याद ही होगा। इतनी देरतक मैंने तुम्हें तोतोंकी तरह पढ़ाया, मगर क्या पढ़ाया यह मुझे याद ही नहीं है। भाई सच तो यह है कि मेरा खयाल तो बहुत अच्छा है, मैं बहुत सी नई नई बातें सोच सकती हूँ मगर मुझे याद कुछ भी नहीं रहता। मगर दौलतमें यह बात नहीं है। वह कोई नया खयाल तो नहीं पैदा कर सकती मगर हाँ उसे बातें याद खूब रहती हैं। मैं तो मानों एक फजूलखर्च सौदागर हूँ। रोजगार भी खूब करती हूँ और जो कुछ पैदा करती हूँ उसें खर्च भी कर डालती हूँ। मगर दौलतकी हालत बहुत होशियार आदमियोंकी सी है। वह रोजगार तो बहुत ज्यादा नहीं कर सकती है, मगर जो कुछ

पाती है उसे जमा बहुत अच्छी तरह करती है । हाँ हाँ, खूब याद आया। मैं कह रही थी न कि कंजूस लोग उम्रभर मेहनत करके खूब रोजगार करते हैं और अपने लड़कों और पोतोंके उड़ानेके लिये दौलत जमा करते हैं । यह भी एक ताज्जुबकी ही बात है ।

दौलत—क्यों सलीम ! यह ताज्जुबकी बात कैसे है ?

मेहर—क्यों, क्या यह ताज्जुबकी बात नहीं है ?

सलीम—है क्यों नहीं, मगर तुम ताज्जुबकी जो बातें बतला रही हो उनसे भी बढ़कर ताज्जुबकी एक और वात है ।

मेहर—वह क्या ?

सलीम—बादशाह सलामतके साथ राणा प्रतापसिंहकी लड़ाई । दुनियाके सबसे बड़े और बहादुर बादशाहके साथ एक छोटेसे जमींदारकी लड़ाई ! भला इससे बढ़कर ताज्जुबकी और कौनसी बात हो सकती है ?

दौलत—यह तो पागलपन है ।

सलीम—मैं भी पहले ऐसा ही समझता था। मगर अभी थोड़े ही दिनोंकी बात है, उसने जिस तरह शाही फौजको परेशान कर दिया था उसे देखते हुए मैं प्रतापको पागल नहीं कह सकता । एक सौ राजपूत पाँच पाँच सौ मुगलोंसे लड़ते हैं और फिर भी उन्हें हरा ही देते हैं ।

मेहर—तो फिर तुम लोग भी एक वार अच्छी तरह लड़कर उन लोगोंको क्यों नहीं हरा देते ?

सलीम—अबकी बार ऐसा ही होगा । जब राजा मानसिंह शोलापुरसे लौटकर आने लगेंगे तब वे रास्तेमें प्रतापसिंहसे मुलाकात

करके उनकी फौजी ताकत अच्छी तरह देखते आवेंगे । अगर वे किसी तरहसे प्रतापको अपने काबूमें कर सकेंगे और प्रतापसिंहसे खिराज देना मंजूर करा लेंगे तब तो ठीक ही है, नहीं तो फिर लड़ाई तो होगी ही ।

मेहर—तुम भी लड़ाईमें जाओगे ?

सलीम—मैं अगर लड़ाई पर न जाऊँगा तो क्या लँगड़ों लूलोंकी तरह घरमें बैठा रहूँगा ?

मेहर—तब तो मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी ।

सलीम—तुम !

मेहर—तुम्हें ताज्जुब क्यों हुआ ?

दौलत—तब तो मैं भी चलूँगी ।

सलीम—वाह ! तुम लोग लड़ाईमें जाकर क्या करोगी ?

मेहर—वाह, मैं क्यों न जाऊँगी ? तुम हमेशा हम लोगोंके पास आकर शेखी बघारा करते हो कि मैं इस तरह लड़ा और मैंने इस तरह दुश्मनको हराया, मैं भी चलकर देखूँगी कि तुम सचमुच लड़ते भिड़ते भी हो या यों ही चुपचाप बैठे रहते हो ।

सलीम—अगर मैं लड़ता नहीं हूँ तो क्या बिना लड़े ही हार जीत हो जाती है ?

मेहर—मैं तो ऐसा ही समझती हूँ । मेरा तो खयाल है कि लड़ाईमें इस तरफके लोग तोपें लगाकर खड़े हो जाते हैं और उस तरफके लोग भी । इसके बाद एक रुपया निकाला जाता है । एक तरफक लोग उसका एक हिस्सा ले लेते हैं और दूसरी तरफके लोग उसका दूसरा हिस्सा ले लेते हैं । इसके बाद एक आदमी उस रुपयेको अच्छी तरह घुमाकर ऊपर फेंकता है । जब वह रुपया जमीन-

पर गिरता है तब जिसकी तरफका हिस्सा ऊपर रहता है वह जीत जाता है और जिसकी तरफका हिस्सा नीचे रहता है वह हार जाता है।

सलीम—तो फिर लोग इतनी फौज लेकर क्यों जाते हैं ?

मेहर—सिर्फ लोगोंको दिखलाने और अपना रोब जमानेके लिये। और नहीं तो तुम दुबले पतले सिपाही लड़ाई करना क्या जानो! क्यों दौलत ?

दौलत—और नहीं तो क्या ?

मेहर—अभी तो इनके दूधके दाँत भी नहीं टूटे, ये वेचारे क्या लड़ेंगे ?

सलीम—तो क्या अब तुम लोग यही चाहती हो कि मैं तुम्हें अच्छी तरह दिखला दूँ कि मैं कैसे लड़ता हूँ ?

मेहर—जरूर। क्यों दौलत ?

दौलत—और नहीं तो क्या ?

सलीम—अच्छा तो फिर मैं भी तुम लोगोंको दिखला ही दूँगा। मैं बादशाह सलामतसे इजाजत ले लूँगा और तुम लोगोंको भी अपने साथ ले चलूँगा तब देखना कि मैं लड़ता हूँ या नहीं ? (प्रस्थान।)

मेहर—हा हा हा! बस सलीमको जरा ताव दिला देना चाहिए और फिर तमाशा देखना चाहिए। इन्हें कितना दिमाग है! जहाँ किसीने कोई बात कही कि ये आपेसे बाहर हो गये!

[एक दासीका प्रवेश।]

दासी—बादशाह सलामत तशरीफ ला रहे हैं। (प्रस्थान)

मेहर—इस वक्त बादशाह सलामत क्यों आ रहे हैं ?

दौलत—मैं जाती हूँ ।

मेहर—वाह जाओगी कहाँ ? खड़ी रहो । हम लोग उनसे अर्ज करेंगे ।

दौलत—नहीं, मैं जाती हूँ ।

मेहर—वाह, तुम भी बड़ी डरपोक हो । बादशाह सलामत क्या शेर हैं या भालू जो तुम्हें खा जायँगे !

दौलत—नहीं, मैं जाती हूँ । (प्रस्थान ।)

मेहर—दौलतको बादशाह सलामतसे न जाने क्यों इतना डर लगता है मगर मुझे तो बिलकुल डर नहीं लगता । वे जमाने भरमें बादशाह हुआ करें, मगर घरमें उन्हें कौन मानता है !

[अकबरका प्रवेश ।]

अक०—मेहर, तुम यहाँ अकेली क्यों बैठी हो ?

मेहर—(अभिवादन करके) जी हाँ, इस वक्त तो अकेली ही हूँ । अभी तो दौलत यहाँ खड़ी थी मगर आपके आनेकी खबर सुनकर भाग गई ।

अक०—क्यों ?

मेहर—क्या जाने ! बादशाह सलामतसे दुश्मन लोग डरा करें, भला हम लोग क्यों डरने जायँ ?

अक०—(हँसकर) तो क्या तुम मुझसे नहीं डरतीं ?

मेहर—बिलकुल नहीं । मैं देखती हूँ कि आप बिलकुल आदमियोंकी तरह हैं, अब चाहे आप हिन्दोस्तानके बादशाह हों और चाहे तुर्कीके सुलतान, मैं क्यों डरूँ ? हाँ आपकी इज्जत जरूर करती हूँ ।

अक०—वह क्यों ?

मेहर—वह इसलिये कि एक तो आप वालिद हैं और दूसरे उम्रमें वड़े हैं ?

अक०—मेहर, तुम वहुत ठीक कहती हो। अगर तुम्हीं लोग मुझसे डरने लगोगी तो फिर मुझसे मुहव्वत कौन करेगा ? भला यह तो वतलाओ, अभी सलीम यहाँ आया था ?

मेहर—जी हाँ। खूव याद दिलाया। क्या राणा प्रतापसिंहके साथ लड़ाई होनेवाली है ?

अक०—हाँ, मुमकिन है हो। अभी मानसिंह उस तरफ जा रहे हैं, जव वे लौटकर आ जायँगे तव कुछ तै होगा।

मेहर—तो क्या शाहजादा सलीम भी उस लड़ाईमें जायँगे ?

अक०—जरूर। वात यह है कि मानसिंह हमेशा तो जिन्दा रहेंगे नहीं, इसलिये सलीमको भी सव वातें सिखला देनी चाहिए।

मेहर—तो मेरी भी एक अर्ज है।

अक०—वह क्या ?

मेहर—पहले यह वतला दीजिए कि आप उसे मंजूर करेंगे ?

अक०—भला यह भी कोई कहनेकी वात है ? मेहर ! दुनियामें कौनसी ऐसी चीज है जो मैं तुम्हें नहीं दे सकता ?

मेहर—अर्ज यही है कि मैं इस लड़ाईमें जाऊँगी और दौलत भी मेरे साथ जायगी।

अक०—हैं ! तुम लोग लड़ाईमें जाकर क्या करोगी ?

मेहर—क्यों, क्या हम लोग आदमी नहीं हैं ? क्या हम हमेशा मकानमें ही कैद रहेंगी ? हम लोगोंकी तवियत क्या किसी वातको चाहती नहीं ? हम लोगोंको क्या कोई शौक ही नहीं ?

अक०—यह कैसा शौक ! भला यह भी कभी हो सकता है ?

मेहर—क्यों नहीं हो सकता ? हो सकता है और होगा । आप जिद कर सकते हैं और लड़की जिद नहीं कर सकती ?

अक०—मैंने कब जिद की ?

मेहर—की थी । उस दिन जब आप चित्तौर फतह करके आये थे तब आपने मुझसे कहा था कि हिन्दूशास्त्रोंकी कोई ऐसी कहानी सुनाओ जिसमें किसी धार्मिक वीरने अपने दुश्मनको छलसे मारा हो । उस वक्त मैंने आपको वालि और द्रोणके मारे जानेका हाल वतलाया था और तब कहीं आपका जीमें जी आया था।

अक०—भला उससे और इससे क्या निस्बत ?

मेहर—हो या न हो, मगर मैं इस लड़ाईमें जरूर जाऊँगी ।

अक०—यह क्यों कर हो सकता है ?

मेहर—देखिए होता है या नहीं ।

अक०—अच्छा इस वक्त इन बातोंको रहने दो । पहले लड़ाई तो शुरू हो पीछे देखा जायगा ।

(दोनोंका प्रस्थान ।)

आठवाँ दृश्य ।

स्थान—उदयसागरका तट ।

समय—दोपहर ।

[एक ओर माना, गोविन्दसिंह, रामसिंह, रोहिदास, आदि राजपूत सरदार और प्रतापसिंहके मंत्री भामाशाह, और दूसरी ओर महाराज मानसिंह खड़े हैं ।]

मानसिंह—मेरे स्वागतके लिये राणाजीने जो यह इतना अधिक प्रबन्ध किया उसके लिये मैं उनका बहुत ही अनुग्रहीत हूँ ।

भामा०—इस समय हम लोगोंकी जैसी अवस्था है उसे देखते हुए हम लोग आपके स्वागतका उचित प्रबन्ध कहाँसे कर सकते थे ? परन्तु फिर भी हम लोग जानते हैं कि आमेरके राजा इस साधारण स्वागतको ही ग्रहण करनेके योग्य समझेंगे और इसमें जो कुछ त्रुटि होगी उसके लिये हम लोगोंको क्षमा करेंगे ।

मान०—मंत्रीजी ! राणा प्रतापसिंहका आतिथ्य ग्रहण करना आज प्रत्येक राजपूतके लिये वड़े सम्मानकी वात है ।

गोविन्द०—महाराज, आपने यह बात वहुत ठीक कही ।

माना—कहनेके लिये तो महाराज सदा राणाजीकी वहुत वड़ाई किया करते हैं, परन्तु कार्य्यतः आप उनके पुराने शत्रु मुगलोंके दास हो रहे हैं ।

रोहिदास—माना, चुप रहो । मानसिंह अकबरके सालेके लड़के हैं । भला उनसे इसके अतिरिक्त और किस वातकी आशा की जा सकती है ?

भामा०—जो हो, पर आज वे हम लोगोंके अतिथि हैं । महाराज, आप मानाकी बातपर ध्यान न दीजिएगा ।

मान०—नहीं मंत्रीजी, मैं ऐसी वातोंपर ध्यान नहीं देता और फिर उन्होंने कहा भी ठीक ही है, परन्तु आप लोग इतना स्मरण रखें कि अकबर वादशाहके सालेका लड़का बननेके लिये स्वयं मैं उत्तरदायी नहीं हूँ । वह काम मेरा अपना किया हुआ नहीं है । हाँ इतना मैं अवश्य मानता हूँ कि मैं अकबरकी ओरसे युद्ध करता हूँ । परन्तु क्या अकबरके विरुद्ध अस्त्र उठाना विद्रोह नहीं है ?

गोविन्द०—महाराज, यह क्यों ?

मान०—इसलिये कि इस समय अकबर ही भारतके एकच्छत्र अधिपति हैं ।

माना—वह किस अधिकारसे ?

मान०—शक्तिके अधिकारसे । युद्धक्षेत्रमें बार बार यह निश्चित हो चुका है कि भारतका अधिपति कौन है ।

राम०—परन्तु महाराज! अभीतक युद्ध तो समाप्त ही नहीं हुआ। स्वाधीनताके लिये जो युद्ध होता है वह एक वर्षकी कौन कहे एक शताब्दीमें भी समाप्त नहीं होता । स्वाधीनताके लिये युद्ध करनेका अधिकार पितासे पुत्रको मिलता है और इसी प्रकार वंशपरम्परासे चलता है ।

मान०—परन्तु वह सब व्यर्थ है । प्रचण्डबलशाली अकबरके विरुद्ध युद्ध करके रक्तपात करनेसे फल ही क्या ?

राम०—महाराज, फलाफल ईश्वरके हाथ है । हम लोग केवल अपनी बुद्धिके अनुसार काम करते चलते हैं, फलाफलके लिये हम लोग उत्तरदायी नहीं हैं ।

मान०—क्या बिना फलाफलका विचार किये कोई काम करना मूर्खता नहीं है ?

गोविन्द०—महाराज, यदि यही मूर्खता है तो संसारकी उच्च प्रवृत्ति और महत्त्वका आधा अंश इसी मूर्खताके अन्दर छिपा हुआ है । ऐसी ही मूर्खताके कारण सती स्त्री अपने प्राण दे देती है परन्तु सतीत्व नष्ट नहीं होने देती । इसी प्रकारकी मूर्खताके कारण स्नेहमयी माता अपनी सन्तानकी रक्षाके लिये जलती हुई आगमें कूद पड़ती है । इसी प्रकारकी मूर्खताके कारण धार्मिक हिन्दू अपना सिर कटा देते हैं परन्तु कुरानके अनुयायी नहीं बनते । महाराज, राणा-

जीकी इसी दरिद्रतामें एक ऐसा महत्त्व है, उनके इसी आत्मोत्सर्गमें एक ऐसा सम्मान है जो अकबरके पैरोंकी धूलसे भरे हुए आपके इस सोनेके मुकुटमें भी नहीं है। मानसिंह ! आप चाहे जो हों, पर हिन्दू हैं। आप हिन्दू होकर भी ऐसी बात कहते हैं ! आपको धिक्कार है !

[अमरसिंहका प्रवेश ।]

अमर०—महाराज, पिताजी कहते हैं कि यदि आप स्नान कर चुके हों तो भोजन करके हम लोगोंको सम्मानित करें।

मान०—राणाजी कहाँ हैं ?

अमर०—वे कुछ अस्वस्थ हैं। आज वे भोजन नहीं करेंगे। जब आप भोजन कर लेंगे तब वे आकर आपसे भेंट करेंगे।

मान—अच्छा अमरसिंह, मैंने सब समझ लिया। तुम जाकर राणाजीसे कह दो कि मैंने उनके अस्वस्थ होनेका कारण जान लिया। कदाचित् वे मेरे साथ बैठकर भोजन करना नहीं चाहते। उनसे यह भी कह देना कि इतने दिनोंतक केवल उन्हींके सम्मानकी रक्षाके लिये मैं अपना मान खो रहा था और सम्राट्का सेवक होनेपर भी इतने दिनोंतक मैंने राणाके विरुद्ध अस्त्र नहीं उठाया था। परन्तु आजसे मैं स्वयं उनका शत्रु हो गया। यदि मैं उनका यह अभिमान न तोड़ूँ तो मेरा नाम मानसिंह नहीं।

[प्रतापसिंहका प्रवेश ।]

प्रताप—महाराज मानसिंहजी, बहुत अच्छी बात है। ऐसा ही सही। जब मैं स्वयं अकबरका शत्रु हूँ तब उनके एक सेनापतिकी शत्रुतासे नहीं डर सकता। आज आप मेरे अतिथि हैं, नहीं तो यहीं पता लग जाता कि सम्राट्के सालेके लड़के महाराज मानसिंह बड़े

हैं या दीन दरिद्र राणा प्रताप । आप जब चाहेंगे तभी समरभूमिमें मुझे उपस्थित पावेंगे ।

मान०—बहुत अच्छा ! ऐसा ही होगा । शीघ्र ही मैं समरभूमिमें आपसे भेंट करूँगा ।

रो०—यदि हो सके तो अपने फूफा अकबरको भी लेते आइएगा ।

प्रताप—चुप रहो, रोहिदास ।

(मानसिंहका क्रोधसे प्रस्थान ।)

प्रताप—भाइयो ! इतने दिनोंतक युद्धके लिये हम लोगोंने जो कुछ उद्योग किया है अब उसकी परीक्षा होगी । आज मैंने अपने हाथसे जो आग लगाई है उसे वीरोंके रक्तसे बुझाऊँगा । तुम लोगोंको वह प्रतिज्ञा स्मरण तो है न कि युद्धमें चाहे हारें और चाहे जीतें परन्तु मुगलोंके सामने सिर नहीं झुकावेंगे ? वह प्रतिज्ञा स्मरण है न कि चित्तौरके उद्धारके लिये आवश्यकता पड़नेपर प्राण तक दे देंगे ?

सब—हाँ राणाजी, स्मरण है ।

प्रताप—अच्छा तो फिर युद्धके लिये तैयार हो जाओ ।

सब—राणा प्रतापसिंहकी जय !

दूसरा अंक।

पहला दृश्य।

स्थान—पृथ्वीराजके अन्तःपुरका एक कमरा।

समय—रात।

[पृथ्वीराज पलंगपर लेटे हुए हैं और सामने उनकी स्त्री जोशीबाई खड़ी है।]

जोशी०—अब तो अकबरके साथ राणा प्रतापसिंहका युद्ध छिड़ गया। एक ओर एक छोटेसे राज्यके स्वामी और दूसरी ओर संसारके सबसे बड़े सम्राट्।

पृथ्वी०—कैसा सुन्दर दृश्य है! कैसा बढ़िया भाव है! मैंने तो सोचा है कि इसी विषयपर एक कविता लिखूँ।

जोशी०—तुम तो राजकवि ठहरे, कवितामें सम्राट्की ही बड़ाई करोगे?

पृथ्वी०—वाह, भला मैं सम्राट्की बड़ाई न करूँगा? एक तो वे ठहरे सम्राट् और फिर मैं उन्हींकी दी हुई तनख्वाहसे पेट पालता हूँ। माना कि यह कलियुग है, लेकिन फिर भी क्या केवल इसीलिये मैं नमकहरामी करूँगा?

जोशी०—सचमुच कलियुग है! यदि कलियुग न होता तो क्या आज प्रतापसिंहके भाई शक्तसिंह और भतीजे महाबतखाँ इस युद्धमें प्रतापसिंहके विरुद्ध होकर मुगलोंका साथ देते? आमेर-

नरेश राजपूत वीर मानसिंह राजपूतानेके एक मात्र बचे हुए स्वाधीन राज्य मेवाड़की स्वाधीनता नष्ट करनेके लिये कमर कसते ? बीकानेरके राजाके भाई क्षत्रिय पृथ्वीराज मोगल बादशाह अकबरकी इस प्रकार स्तुति करते ? हाय, चन्दकविने बहुत ही ठीक कहा है कि हिन्दुओंके सबसे अधिक भयानक शत्रु स्वयं हिन्दू ही हैं ।

पृथ्वी०—यह तो तुमने बहुत ही ठीक कहा । हिन्दुओंके सबसे बड़े शत्रु हिन्दू ही हैं । (कुछ सोचकर) हाँ ठीक ही है । हिन्दुओंके प्रधान शत्रु हिन्दू ही हैं । ठीक है—हूँ—ठीक है ।

(इतना कहकर पृथ्वीराज पलंगपरसे उठ खड़े होते हैं और झूमते हुए इधर उधर टहलने लगते हैं । जोशी चुपचाप खड़ी रहती है ।)

पृथ्वी०—इसपर तो एक बहुत अच्छी कविता लिखी जा सकती है—हिन्दुओंके प्रधान शत्रु हिन्दू । इसकी एक सुन्दर उपमा इस प्रकार दी जा सकती है कि मनुष्यके बहुतसे शत्रु होते हैं जैसे शेर, भालू, साँप, बाज इत्यादि, परन्तु मनुष्योंका प्रधान शत्रु मनुष्य ही है ! शेर और भालू जंगलमें रहते हैं, साँप बिलमें रहते हैं और बाज आकाशमें उड़ते फिरते हैं । इन सबकी शत्रुतासे मनुष्यकी कोई विशेष हानि नहीं होती । परन्तु मनुष्य एक दूसरेके पास रहते हैं । यदि वे एक दूसरेसे शत्रुता करें तो बड़ी कठिनाई आ पड़े । अथवा यों कहा जा सकता है कि अहंज्ञानका प्रधान शत्रु अहंकार है । अथवा—

जोशी०—तो क्या तुम जन्मभर इस प्रकार केवल उपमाएँ ही ढूँढ़ा करोगे ?

पृथ्वी०—क्यों, इसमें हानि ही क्या है ? यह तो बहुत बढ़िया काम है । उपमाएँ संसारके बहुतसे गूढ़ तत्त्वोंकी व्याख्या कर देती

हैं। उपमाएँ यह बतला देती हैं कि वास्तविक जगतमें—संसारमें और मनोराज्यमें—सर्वत्र ही विकाश केवल एक ही धारासे चलता है और सबसे बड़ा कवि वही होता है जो उन सब सम्बन्धोंको दिखला दे। परन्तु उन सम्बन्धोंको दिखलानेका उपाय केवल उपमा ही है। कालिदास सबसे बड़े कवि क्यों माने जाते हैं? इसी उपमाके कारण—'उपमा कालिदासस्य।' वाह कालिदास भी कैसे अच्छे कवि हो गये हैं! कालिदास! मैं तो तुम्हें कोटि कोटि प्रणाम करता हूँ। हाँ जोशी! मैंने जो अभी हालमें बादशाहके दरबारके सम्बन्धमें कविता लिखी है वह तुमने नहीं सुनी? अच्छा लो सुनो—

जोशी०—स्वामी, अब तुम इस प्रकारकी असार कविताएँ लिखना छोड़ो।

(पृथ्वीराज रुककर खड़े हो जाते हैं और फिर जोशीकी ओर आँखें फाड़ फाड़कर देखते हुए कहते हैं।–)

पृथ्वी०—मैं कविता लिखना छोड़ दूँ? इससे तो तुम तलवार लाकर मेरा गला ही क्यों नहीं काट डालतीं? मैं कविता लिखनी छोड़ दूँ? तुम यह क्या कहती हो!

जोशी०—देखो तुम क्षत्रिय हो और बीकानेरके महाराज रायसिंहके भाई हो। परन्तु इस समय तुम बादशाहके खुशामदी कवि बने हुए हो। केवल थोथी बातोंकी मालाएँ गूँथनेमें ही तुमने यह दुर्लभ मानव-जीवन बिता दिया! तुम्हें लाज भी न आई! उधर प्रतापसिंह तो देशकी स्वाधीनताके लिये अपने शरीरका रक्त बहा रहे हैं और इधर तुमने वही क्षत्रिय होकर तुच्छ भोग-विलासमें जीवन बिता दिया!

(पृथ्वीराज फिर टहलने लगते हैं।)

पृथ्वी०—'भिन्नरुचिर्हि लोकः'—यह भी वहीं कालिदास कह गये हैं। लोगोंकी रुचि भिन्न भिन्न होती है, इसीलिये किसीको गीत गाना अच्छा लगता है और किसीको सुनना अच्छा लगता है। किसीको रसोई बनाना अच्छा लगता है और किसीको भोजन करना अच्छा लगता है। प्रतापसिंहको युद्ध करना पसन्द है, मुझको कविता लिखना पसन्द है। प्रतापने 'असि'को पकड़ा है, मैंने 'मसि'को पकड़ा है!

जोशी०—वाह! क्या अच्छा काम है! तो क्या तुमने इस काव्यमय संसारमें आकर असार बातोंके और भी अधिक असार जोड़ ढूँढ़नेमें ही अपना जीवन बिता देना निश्चित किया है?

पृथ्वी०—हाँ इच्छा तो कुछ ऐसी ही है! कालिदास, भवभूति और माघ जिस पथके पथिक थे, मैंने भी उसी पथका अवलम्बन किया है। इसमें लज्जित होनेका तो कोई कारण मुझे दिखलाई नहीं देता। कविता करना कोई बुरा काम नहीं है।

जोशी०—हाँ बुरा काम तो नहीं है; परन्तु उसके लिये यह समय उपयुक्त नहीं है। जिस समय आर्यावर्त इतना पीड़ित हो, जातिका वीर्य्य इस प्रकार नष्ट हो रहा हो, धर्मका प्रायः नाश हो रहा हो, उस समय क्या क्षत्रियोंका यही कर्त्तव्य है कि युद्ध छोड़कर कविता लिखने बैठ जायँ? और यदि तुम कविता ही लिखना चाहो तो ऐसी कविता लिखो जिसके भावोंमें बिजली और भाषामें गरज भरी हो। ऐसी कविता लिखो जिसका गम्भीर संगीत सारे देशमें छा जाय। ऐसी कविता लिखो जिसे पढ़ते ही भाई अपने भाईके लिये, सन्तान अपने मातापिताके लिये और मनुष्य मनुष्यत्वके लिये रोने लगे। ऐसी कविता लिखो जिससे अन्यायके हाथसे राजदण्ड छूट जाय,

अत्याचारके सिरसे मुकुट गिर पड़े और अधर्म्मके नीचेसे सिंहासन हट जाय। नाथ कोई ऐसा ही गीत या काव्य सुनाओ जिसे मैं भी जी भरकर सुनूँ।

पृथ्वी०—अर्थात् मैं अपने आपको सूलीपर चढ़वा दूँ और तुम मुझे जी भरकर देखो।

जोशी—हाय नाथ! तुम्हें अपने प्राणोंका इतना भय है! यदि तुम अपने प्राणोंको तुच्छ समझकर गीत न गा सको तो फिर गीत गानेकी आवश्यकता ही नहीं। देश, जाति, धर्म, मनुष्यत्व सब कुछ भूलकर दिनरात केवल यवन-सम्राट्का गुण गाना! हाय! अकबरने क्या तुम्हें खिलापिलाकर और अपने दरबारमें खड़ाकर नीच तोतेकी तरह इस प्रकार केवल 'हुजूर हुजूर' कहना ही सिखलाया है?

पृथ्वी०—देखो, तुम जो इतनी बातें इतनी तेजीसे कह गईं यदि इन सबको कुछ छील-छालकर और घिस-घिसाकर त्रिपदीमें चढ़ा दिया जाय तो एक खासी कविता बन जाय! (सिर हिलाकर) कैसा सुन्दर, प्रशस्य मधुर और चमत्कार पूर्ण भाव है!

जोशी०—तुमसे तो बात ही करना व्यर्थ है!

पृथ्वी०—समझ लिया न? तो अब इस प्रकारकी व्यर्थ बकबक न करके किसी ऐसे भोजनका प्रबन्ध करो जिससे मेरा मिजाज ठण्डा रहे। जाकर देखो तो सही कि भोजनमें कितनी देर है?

(जोशीका प्रस्थान।)

पृथ्वी०—(टहलते हुए) प्रतापसिंह! तुम अपना घर बार छोड़-कर अकेले खाली हाथ इतने बड़े बादशाहके विरुद्ध खड़े होकर क्या करोगे? जो बात किसी प्रकार हो ही न सके उसके लिये क्यों व्यर्थ

प्रयत्न करते हो ? आओ, हमारे दलमें मिल जाओ ! खूब बढ़िया भोजन मिलेगा; रहनेके लिये महल मिलेगा और दरबारमें इज्जत होगी। क्यों व्यर्थ मूर्खता करके एक आदर्श खड़ा करते हो और क्षत्रिय पुरुषोंके साथ उनकी स्त्रियोंको लड़ाते हो ! (प्रस्थान ।)

दूसरा दृश्य ।

स्थान—हलदी घाटी । सलीमकी छावनी ।

समय—तीसरा प्रहर ।

[सलीमके खेमेमें दौलत और मेहरका प्रवेश ।]

मेहर—शाहजादा तो यहाँ नहीं हैं !

दौलत—बेशक नहीं हैं ।

मेहर—बस, मैं यहीं बैठकर उनका इन्तजार करूँगी ।

दौलत—आज तो तुम खूब बिगड़ी हो !

मेहर—क्यों, बिगड़ूँगी नहीं ? मैं आई थी लड़ाई देखने और यहाँ कहीं लड़ाईका नाम भी नहीं है । हाँ, खाली बातें ही बातें सुनाई देती हैं । मुझसे तो नहीं रहा जाता । मैं इस तरह उदास होकर चुपचाप बैठना नहीं चाहती । मेरा तो यहाँ एक घड़ी भर भी रहनेको जी नहीं चाहता । मैं आज ही यहाँसे चली जाऊँगी ।

दौलत—तुम्हारा तो मतलब ही मेरी समझमें नहीं आता । इतनी आफत मचाकर तो तुम लड़ाई देखने आईं और जब लड़ाई शुरू होनेको हुई तब चलनेके लिये तैयार हो गईं !

मेहर—लड़ाई कहाँ हो रही है ? आज पन्द्रह दिन हो गये। दोनों तरफकी फौजें एक दूसरेके सामने पड़ी हैं और आँखें दिखला

रहीं हैं। कहीं एक भी लड़ाई हुई ? मुझसे तो नहीं रहा जाता। लो सुनो, फिर लोग खाली खाली गरज रहे हैं! मैं तो अब यहाँ नहीं ठहर सकती। मैं इसी वक्त चली जाऊँगी—लो, शाहजादा सलीम भी आ गये!

[सुसज्जित सलीमका अपने वस्त्र झाड़ते हुए आना और अपने खेमेमें दोनों वहनोंको देखकर विस्मित होना।]

सलीम—हैं! तुम लोग यहाँ क्या करनेके लिये आई ?

दौलत—आज वहन मेहर बहुत बिगड़ी हैं—

सलीम—क्यों ?

दौलत—इसी वक्त जानेके लिये तैयार हैं।

सलीम—क्यों ?

मेहर—(उठकर) क्यों क्या ? कहीं लड़ाई भी है ? जितने डरपोक राजपूत और जितने डरपोक मोगल हैं वे सब स्वाँगसा बनाये खड़े हैं! बीच बीचमें सब गरज अलबत्त: उठते हैं, पर न कहीं लड़ाई होती है और न कहीं लड़ाईका बाजा बजता है। अगर इसीका नाम लड़ाई है तो मैं बाज आई। तुम मुझे चलकर घर पहुँचा आओ।

सलीम—भला यह भी कभी हो सकता है ? बहुत जल्दी यहाँ लड़ाई होगी। मानसिंह तो डरपोक हैं, इसी लिये उन्हें चढ़ाई करते डर लगता है। अगर मैं सिपहसालार होता—

मेहर—तुम सिपहसालार नहीं हो ? तब क्या तुम यहाँ सिर्फ काठकी पुतली बनकर आये हो ? मुझे ये सब बात अच्छी नहीं लगतीं। मुझे चलकर पहुँचा आओ। मैं अब यहाँ नहीं रहूँगी।

सलीम—भला यह कैसे हो सकता है! क्या तुम्हें आगरे पहुँचा देना कोई मामूली बात है ?

मेहर—चाहे मामूली हो और चाहे गैरमामूली, अगर तुम कल सवेरे मुझे आगरे भेज दो तब तो ठीक है, नहीं तो (जमीन पर सिर पटककर) मैं बड़ी भारी आफत खड़ी कर दूँगी।

सलीम—वह क्या !

मेहर—मैं या तो खुद महाराज मानसिंहके पास जाकर कहूँगी या अपनी जान दे दूँगी। मेरे लिये दोनों बातें बराबर हैं। बस सीधी सी बात है। (सिर हिलाकर बहुत ही दृढ़तासे) बस अब मैं एक दिन भी यहाँ नहीं ठहर सकती।

सलीम—कहाँ तो उस वक्त आनेके लिये आफत मचाई थी और कहाँ अब जानेके लिये यह हाल है ! आखिर औरतोंका स्वभाव ठहरा, वह कैसे छूटे ! वहाँ तुमने आनेके लिये मेरे पैर पकड़नेमें क्या बाकी रख छोड़ा था ?

मेहर—वहाँ जो कुछ बाकी रख छोड़ा था वह अब यहाँ पूरा किये देती हूँ। (सलीमके पैर पकड़ लेती है।) भाई, मुझसे बड़ी भारी भूल हुई। मैंने सोचा था कि मैं बहादुरोंके साथ चल रही हूँ। परन्तु मैं यहाँ आकर देखती हूँ कि सब कायर और डरपोक हैं। तुम लोगोंमें तो इतनी भी हिम्मत नहीं है जितनी एक भेड़में होती है। इस लिये मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ। अगर तुमसे हो सके तो तुम कल ही कुछ तै-तमाम कर डालो और नहीं तो मुझे घर भेज दो। अब तो मुझे लड़ाईसे नफरत हो गई है।

सलीम—अच्छा अच्छा, तुम उठो। मैं अभी महाराज मानसिंहके पास जाता हूँ। इसके बाद जो कुछ होगा वह किया जायगा। मगर तारीफ है तुम्हारी बहिन ! बड़ी तकदीरसे तुम मेरी छोटी बहिन हुई हो, और इसी लिये तुम्हारी इतनी जिद चलती है ! (प्रस्थान।)

दौलत—खूब तरकीब निकाली ।

मेहर—निकालती क्यों नहीं ? भला ऐसी हालतमें किसी भले आदमीका मिजाज ठीक रह सकता है ?

(इतनेमें शक्तसिंहका " शाहजादा साहब, शाहजादा साहब " पुकारते हुए खेमेमें आना और दोनों लड़कियोंको देखकर " माफ कीजिएगा " कहते हुए तुरन्त चले जाना ।)

दौलत—ये कौन थे ?

मेहर—सुना है कि ये प्रतापसिंहके भाई राणा शक्तसिंह हैं । कैसे खूबसूरत हैं ! क्यों ?

दौलत—हाँ—ना—बे—

मेहर—मैंने सलीमसे सुना है कि शक्तसिंह बहुत पढ़े-लिखे आदमी हैं । और तिसपर व्यंग्य बोलना खूब जानते हैं । देखो कैसे आये और चटसे माफी माँगकर चले गये ! अगर रुकते तो कुछ देरतक बातचीत होती । यह ठहरा लड़ाईका मैदान ! यदि यहाँ पर इतना परदा न भी किया जाय तो क्या बिगड़ जाय ! और अगर सच पूछो तो मुसलमानोंके इस बेहूदे रिवाजसे मुझे बहुत ही नफरत है ! इससे मेरे हाड़ जल उठते हैं ।—क्या हमारा यह हुस्नका खजाना चार आदमियोंके देखते ही खाली हो जायगा ?—खैर चलो, अपने खेमेमें चलें । तुम क्या सोच रही हो ? चलो—चलें ।

[दौलतुन्निसाका हाथ पकड़कर मेहरुन्निसाका वहाँसे प्रस्थान ।]

तीसरा दृश्य ।

स्थान—मानसिंहका खेमा ।

समय—दोपहर ।

[सलीम और महावतखाँ आमने सामने खड़े होकर बातें कर रहे हैं ।]

सलीम—क्यों साहब, प्रतापसिंहके पास कितनी फौज है ?

महावत०—भेदिएके कहनेके मुताबिक कोई बाईस हजार सिपाही होंगे । इसके सिवा भीलोंकी जो फौज है वह अलग है ।

सलीम—सिर्फ बाईस हजार ! (कपड़े झाड़ते हुए) और चाहे जो कुछ हो मगर फिर भी मैं प्रतापसिंहके हौसलेकी तारीफ करता हूँ । जो आदमी इतने बड़े बादशाहके सामनें सिर्फ २२ हजार फौज लेकर खड़ा हो उसे एक बार देखनेको जी चाहता है ।

महावत०—लड़ाईके वक्त तो जरूर ही उनका सामना होगा । लड़ाईमें वे अपनी फौजके पीछे नहीं रहते, बल्कि सबसे आगे रहते हैं ।

सलीम—महावत ! हम सब लोग तो यही समझते हैं कि तुम्हारी चालाकी और बहादुरीके ऊपर ही इस लड़ाईकी, हार-जीतका सारा दारोमदार है । (कपड़े झाड़ते हुए) खैर, अब देखा जायगा कि तुम अपने चाचाके लायक भतीजे हो या नहीं ।

महावत०—इस लड़ाईमें जो कुछ होगा वह मैं अच्छी तरह जानता हूँ । हम लोगोंकी फौज मेवाड़की फौजसे चौगुनी है । इसके सिवा हम लोगोंके पास तोपें हैं और प्रतापसिंहके पास तोपें नहीं हैं । और तिसपर आज खुद महाराज मानसिंह मुगल-फौजके सिपहसालार हैं ।

सलीम—मानसिंहकी तारीफ सुनते सुनते तो मैं घवरा गया ! जब कभी लड़ाईकी वात होती है तब बादशाह सलामत भी मानसिंहका ही नाम जपा करते हैं। मानों मानसिंह कोई खुदा हों। या अगर मानसिंह न होते तो मुगलोंकी वादशाहत ही कायम न हुई होती !

महावत०—तो क्या यह भी कोई झूठ वात है ? भला आप ही बतलाइए कि काकेशससे लेकर अराकानतक और हिमालयसे लेकर विन्ध्याचलतक कौनसा मुल्क ऐसा है जो विना महाराज मानसिंहकी मददके मुगलोंके हाथमें आया हो ? बादशाह सलामत इस वातको बहुत अच्छी तरह जानते हैं और वे प्रतापसिंहको भी खूब पहचानते हैं। इसी लिये उन्होंने इस लड़ाईमें मानसिंहको भेजा है।

सलीम—अजी साहव रहने भी दीजिए ! मैं बहुत सुन चुका हूँ। सुनते सुनते कान बहरे हो गये ! अगर मानसिंह ऐसे ही बहादुर थे तो फिर उन्होंने खुद अपना ही ताज क्यों न सँभाला? और मुगलोंके पैरों क्यों पड़े ?

महावत०—शाहजादा साहब ! यह सब किस्मतकी खूबियाँ हैं !

[मानसिंहका एक नकशा लिये हुए प्रवेश।]

मान०—शाहजादा साहब, तसलीम। महाबतखाँ, बन्दगी। मेवाड़की फौज ज्यादातर कोमलमीरके पच्छिमके पहाड़ोंमें है। कोमलमीरमें जानेका जो रास्ता है वह बहुत ही कम चौड़ा है। दोनों तरफ छोटी छोटी पहाड़ियाँ हैं और उनपर राजपूत और भील तीरन्दाज खड़े हैं। यह नकशा देख लीजिए।

महावत०—(हाथमें नकशा लेकर) तो क्या कोमलमीरतक पहुँचना बहुत ही मुश्किल है ?

मान०—मुश्किल ही नहीं, नामुमकिन है । राजपूतोंपर यों ही हमला कर बैठना ठीक नहीं है । हम लोग चुपचाप बैठे रहेंगे और उन्हींके हमलेका इन्तजार करेंगे !

सलीम—शाह साहब, हम लोग इस तरह चुपचाप कबतक बैठे रहेंगे ?

मान०—जबतक हो सकेगा बैठेंगे ! मैंने रसद वगैरहका पूरा पूरा बन्दोबस्त कर लिया है ।

सलीम—यह हरगिज नहीं हो सकता । हम लोग ही पहले उन-पर हमला करेंगे ।

मान०—शाहजादा साहब, हम लोगोंको दुश्मनोंके हमलेका ही इन्तजार करना चाहिए । महाबतखाँ, जाओ, मेरा यही हुक्म है ।

सलीम—नहीं, यह कभी नहीं हो सकता । (महाबतखाँसे) आप फौजको कल सुबह चढ़ाईके लिये तैयार कर रखें ।

मान०—शाहजादा साहब, फौजका सिपहसालार मैं हूँ ।

सलीम—और मैं क्या सिर्फ तमाशा देखनेके लिये यहाँ आया हूँ ?

मान०—आप सिर्फ बादशाह सलामतके वकील बनकर आये हैं ।

सलीम—इसका क्या मतलब ?

मान०—इसका मतलब यह है कि आप सिर्फ नामके लिये, एक फर्मानकी तरह, एक निशानीकी तरह, बादशाह सलामतकी तरफसे यहाँ आये हैं । अगर आप यहाँ न आते और आपके बदलेमें बाद-शाह सलामतकी एक जूती यहाँ आई होती तो भी इसी तरह काम होता ।

सलीम—हैं, इतना हौसला ! (म्यानसे तलवार निकाल लेना ।)

मान०—शाहजादा साहब, तलवारको म्यानमें रख लीजिए। फजूल गुस्सा करनेसे क्या फायदा? आप यह तो अच्छी तरह जानते ही हैं कि अगर मुझमें और आपमें लड़ाई हो तो आप मुझसे जीत नहीं सकते। और साथ ही आप यह भी जानते हैं कि कुल फौज मेरे अख्तियारमें है न कि आपके अख्तियारमें।

सलीम—और क्या आप मेरे अख्तियारमें नहीं हैं?

मान०—मैं आपके अख्तियारमें नहीं बल्कि बादशाह सलामतके अख्तियारमें हूँ। इस लड़ाईमें मैं उनसे पूरा पूरा अख्तियार हासिल करके आया हूँ। जबतक मुमकिन होगा तबतक मैं चुपचाप आपके सब काम देखता रहूँगा। मगर साथ ही जब मैं यह देखूँगा कि आप बहुत बढ़े जाते हैं तब आपको ठीक उसी तरह हथकड़ी-बेड़ी पहना दूँगा जिस तरह पागलोंको पहनाई जाती हैं। और अगर इसके लिये कोई कैफियत देनेकी जरूरत होगी तो वह मैं बादशाह सलामतके सामने दे दूँगा। महावतखाँ, मेरे हुक्मके माफिक काम होना चाहिए।

(महावतखाँका चुपचाप शाहजादेको अभिवादन करके प्रस्थान। उनके पीछे पीछे मानसिंहका भी अभिवादन करके प्रस्थान।)

सलीम—अच्छा, इस लड़ाईको खतम हो जाने दो, फिर मैं इसका बदला ले लूँगा। इनका हौसला यहाँतक बढ़ गया! (जल्दीसे खेमेसे निकल जाना।)

चौथा दृश्य ।

स्थान—समरभूमि । शक्तसिंहका शिविर ।

समय—तीसरा पहर ।

[शक्तसिंह अकेले खड़े हैं ।]

शक्त०—यहीं मेवाड़ है ! यही मेरी जन्मभूमि मेवाड़ है ! आज मेरे ही कहनेसे मुगल-सेना आकर इस स्वर्णप्रसू मेवाड़भूमिमें भर गई है । शीघ्र ही इस भूमिपर उसकी सन्तानके रक्तकी नदियाँ बहेंगी । इस भूमिने अपनी सन्तानको जो रक्त दिया है उसे अब वह लौटा लेगी । बस ! सब हिसाब साफ ! और प्रताप ! तुम्हारे साथ मेरा जो झगड़ा चल रहा है, उसका भी फैसला हो जायगा । तुमने मुझे मेवाड़से निकाल दिया है, अब मैं तुम्हारा वह ऋण चुका दूँगा । रावणने विभीषणको लात मारकर निकाल दिया था । विभीषणने उसका बदला ले लिया था । मुझे तुमने निकाला है, मैं भी तुमसे उसका बदला ले लूँगा—मैं तुम्हें मेवाड़से ही निकाल दूँगा । सारे मेवाड़को उजाड़ दूँगा—जला दूँगा और फिर उस श्मशानके ऊपर प्रेतकी तरह घूमूँगा। बस, इतनी ही करूँगा —इससे अधिक और कुछ नहीं । न तो मैं मेवाड़का राज्य चाहता हूँ और न मुगलोंसे किसी तरहका इनाम चाहता हूँ । इसमें न तो किसी प्रकारका द्वेष है, न लोभ है और न हिंसा है । मुझपर प्रतापका केवल एक ऋण था और उसी ऋणको चुकानेके लिये मैं आया हूँ । जहाँतक मुझसे हो सकेगा मैं प्राकृतिक अन्याय, सामाजिक अविचार और राजाके स्वेच्छाचारका प्रतिकार करूँगा । जाति बहुत बड़ी है और उसके सामने मैं बहुत

छोटा हूँ । मैं अकेला रहकर अपना उद्देश्य नहीं सिद्ध कर सकता था, इसीलिये मुगलोंको अपनी सहायताके वास्ते ले आया हूँ । भला कौन कह सकता है कि मैंने इसमें कुछ भी अन्याय किया है ? मैंने कुछ भी अन्याय नहीं किया । वल्कि मैं तो एक वहुत बड़े अन्यायको न्यायकी ओर लाने जा रहा हूँ । औचित्यकी शान्ति भंग हुई थी, मैं फिरसे वह शान्ति स्थापित करने जा रहा हूँ । इसमें मेरी ओरसे किसी प्रकारका अन्याय नहीं है ।

[मेहरुन्निसाका प्रवेश ।]

शक्त०—(चौंककर) कौन ?

मेहर—मैं हूँ मेहरुन्निसा, शाहंशाह अकबरकी लड़की ।

शक्त०—(अदवसे, सँभलकर) बादशाहकी बेटी यहाँ मेरे खेमेमें ?

मेहर—आप भी तो प्रतापसिंहके भाई हैं । फिर उनके दुश्मनके लश्करमें कैसे आये ?

शक्त०—(कुछ अप्रतिभ होकर, धीरेसे) हाँ, मैं प्रतापसिंहके दुश्मनके लश्करमें जरूर हूँ । मैं वदला चुकाना चाहता हूँ ।

मेहर—तो फिर आपके मतलवसे मेरा मतलब वहुत बड़ा है । मैं मेल करने आई हूँ । (शक्तसिंहको चकित देखकर) आपको ताज्जुब क्यों हुआ ?

शक्त०—मैं सोचता हूँ—

मेहर—अच्छी बात है, आप सोचिए । मैं भी सोचती हूँ ! (बैठ जाती है ।)

शक्त०—(और भी अधिक विस्मित होकर) क्या मैं आपसे पूछ सकता हूँ कि आप किस लिये यहाँ तशरीफ लाई हैं ?

मेहर—क्यों नहीं पूछ सकते ! बहुत अच्छी तरह पूछ सकते हैं ! मैं एक बहुत बड़ी मुश्किलमें पड़ गई हूँ !

शक्त०—मुश्किल ! कैसी मुश्किल ?

मेहर—बहुत बड़ी मुश्किल है। आप शायद यह तो जानते ही होंगे कि सलीम मेरे भाई हैं। मैं और दौलतुन्निसा दोनों लड़ाई देखनेके लिये आई थीं। शायद यह बात भी आपको मालूम होगी। मैं तो यहाँ आई लड़ाई देखनेके लिये, मगर यहाँ कहीं लड़ाईका नाम भी नहीं है। यहाँ तो सिर्फ यह दिखलाई देता है कि दोनों तरफ दो बड़ी बड़ी फौजें पड़ी हुई एक दूसरी पर आँखें तरेर रही हैं। मगर मैं सिर्फ यही देखनेके लिये तो आई नहीं हूँ। अब आप ही बतलाइए कि मैं यहाँ बैठी बैठी क्या करूँ ? अबतक तो मैं दौलतुन्निसाके साथ बैठी हुई गप लड़ा रही थी। मगर अब वह भी सो गई ! उसकी भी कैसी नींद है ! भला इस हो-हुल्लड़में कहीं किसी शरीफको नींद आ सकती है ! अब मैं अकेली क्या करती ! मैंने देखा कि आप भी इस वक्त अकेले बैठे हैं। सोचा कि चलो, आपसे ही कुछ बातचीत करूँ। मैंने सलीमसे सुना है कि आप बहुत बड़े आलिम और पढ़े-लिखे आदमी हैं।

(शक्तसिंह और भी अधिक चकित होते हैं।)

मेहर—आप तो इस वक्त बहुत गौरमें पड़े हुए मालूम होते हैं। मैं हूँ तो बादशाह-सलामतकी ही बेटी, मगर मेरी माँ राजपूत है। मैं यहाँ लड़ाई देखनेके लिये आई हूँ। तिसपर मेरी आपकी पहलेसे जान-पहचान नहीं और मैं एकाएक आपके खेमेमें चली आई। और फिर हम लोगोंमें परदेका ऐसा सख्त रवाज है कि आपको शायद इस तरहकी आदत नहीं है—

शक्त०—नहीं, मुझे इस तरहकी आदत नहीं है।—जो हो मगर जब शाहजादा सलीमको यह माऌम होगा कि आप अकेली मेरे खेमेमें चली आई तो वे या बादशाह-सलामत क्या कहेंगे ?

मेहर—नहीं, आप डरें नहीं । बादशाह-सलामत कुछ भी न कहेंगे । मैं जो कुछ कह देती हूँ वही उनके लिये आईन और कानून होता है । रहे सलीम ! सो वे बेचारे क्या कहेंगे ? मैं उनकी बहन हूँ । हम दोनोंकी उम्र भी बराबर ही है। और फिर आप तो जानते हैं कि औरतें थोड़ी ही उम्रमें ज्यादा समझदार हो जाती हैं । इसीलिये मैं जो कुछ कहती हूँ वे उसीको मान लेते हैं । उसके खिलाफ कुछ नहीं कहते। हाँ, खूब याद आया ! क्या आपकी शादी हो चुकी है ?

शक्त०—जी नहीं, अभीतक मेरी शादी नहीं हुई ।

मेहर—यह तो बड़े ताज्जुबकी बात है !

शक्त०—क्यों, ताज्जुब किस बातका ?

मेहर—आपकी शादी नहीं हुई, यह क्या कोई मामूली ताज्जुबकी बात है ? मेरी भी शादी नहीं हुई। यदि आपकी शादी हुई होती और आपकी भी औरत लड़ाईमें आपके साथ आई होती तो फिर मेरा और उसका खूब मेल जोल होता। लेकिन आपकी तो शादी ही नहीं हुई, तब फिर क्या हो !

शक्त०—यह मेरी बदकिस्मती है ।

मेहर—न माऌम बदकिस्मती है या खुशकिस्मती। लेकिन हाँ, फिर भी शादी करनेका रवाज बहुत दिनोंसे चला आता है और उसीके मुताबिक सबको चलना पड़ता है। लेकिन पहले यह तो कहिए कि आशक और माशूककी शुरू शुरूकी बातें किस ढंगकी होती होंगी ? उन्हें सुननेके लिये बहुत जी चाहता है। लेकिन किस्सों

वगैरहमें जैसी वातचीत लिखी मिलती है अगर सचमुच वैसी ही वातचीत हुआ करती हो तव तो वह विलकुल मजाक है ! एक कहता है—" जान ! तुम्हारे वगैर मैं जिन्दा नहीं रह सकता । " इसपर जवाव मिलता है—" जान, वगैर तुम्हें देखे मेरी जान निकलती है । " और ये सव वातें दो ही चार दिनमें हो जाती हैं— पहलेसे कोई एक दूसरेको जानता-पहिचानता तक नहीं । वस सिर्फ दो ही चार दिनमें यह हालत हो गई कि दोनों एक दूसरेके वगैर जिन्दा ही नहीं रह सकते !

शक्त०—माॡम होता है कि शायद अवतक आप किसीकी मुहव्वतके फन्देमें नहीं पड़ी हैं ।

मेहर—जी नहीं, आजतक मेरे लिये कभी ऐसा मौका नहीं आया। मैंने आजतक कभी किसीसे मुहव्वत नहीं की । और इसका भी कोई डर नहीं है कि मेरे साथ कभी कोई शख्स मुहव्वत करेगा ।

शक्त०—क्यों ?

मेहर—सुना है कि अगर कोई किसीके साथ मुहव्वत करे तो पहली वात तो यह होनी चाहिए कि जिसके साथ मुहव्वत की जाय उसकी सूरत-शक्ल अच्छी हो । मैं किस्सोंमें वरावर पढ़ा करती हूँ कि मुहव्वतमें पड़नेवाले सभी मर्दोंको गुलफाम और सभी औरतोंको परी या हूर होना ही चाहिए । किसी वदशक्ल शाहजादीका कोई किस्सा मैंने तो आजतक सुना नहीं । हाँ, एक वदशक्ल शाहजादी देखी जरूर है ।

शक्त०—वह कहाँ ?

मेहर—शीशेमें । मेरा चेहरा विलकुल ही अच्छा नहीं है । अगरचे मेरी आँखें ऐसी वुरी नहीं हैं, फिर भी वे कानों तक फैली हुई नहीं

हैं। और भँवें—सुना है कि भँवें वे ही अच्छी होती हैं जो दोनों एक दूसरीसे मिली हुई हों । मगर मेरी दोनों भँवोंमें बहुत फर्क है । इसके सिवा अगर मेरी नाक बीचमेंसे कुछ और ऊँची होती तो ज्यादा अच्छा होता। मगर मेरी नाक चिपटी—बिलकुल चीनियोंकी सी है। और मजा यह कि मेरी माँ और अब्बाजान दोनोंकी नाक अच्छी है। मेरे गाल भी गुलाबके फूलके मानिन्द नहीं हैं।—गरज यह कि मैं देखनेमें बिलकुल अच्छी नहीं लगती। मगर मेरी दौलतुन्निसा देखनेमें बहुत खूबसूरत है! उसने मेरे बदशक्ल होनेकी कसर निकाल ली है! मगर इसमें तो उसकी बनिस्बत मेरा ही ज्यादा फायदा है। क्यों कि मैं दिनरात अपने सामने एक खूबसूरत चेहरा देखा करती हूँ। मगर वह तो कुछ दिनरात आईनेके सामने बैठी नहीं रह सकती!

[संन्यासिनीके वेशमें ईराका प्रवेश ।]

शक्त०—कौन ?

ईरा—मैं हूँ प्रतापसिंहकी कन्या ईरा ।

शक्त०—ईरा! तुम मेरे खेमेमें कैसे आई ? और तुम्हारा यह संन्यासिनीका सा वेश क्यों है ? क्या मैं यह स्वप्न देख रहा हूँ ?

ईरा—नहीं, चाचाजी, यह स्वप्न नहीं है। मैं सचमुच ईरा हूँ। मैं आपको एकवार देखनेके लिये ही यहाँ आई हूँ। (मेहरकी ओर इशारा करके) ये कौन हैं ?

शक्त०—ये अकबर बादशाहकी कन्या मेहर-उन्निसा हैं। (स्वगत) यह कैसे आश्चर्यकी बात है कि मेरे खेमेमें एक ही समय मुगल सम्राट्की कन्या और राजपूत राजाकी कन्या, दोनों बिना बुलाये आ पहुँची हैं।

(मेहरका ईराके पास पहुँच कर उसके कन्धेपर हाथ रखना ।)

मेहर—क्या आप राणा प्रतापसिंहकी लड़की हैं ?

ईरा—जी हाँ, शाहजादी साहबा ।

मेहर—मैं शाहजादी वाहजादी नहीं हूँ । मैं तो सिर्फ मेहर हूँ । मैं बादशाह सलामतकी लड़की जरूर हूँ, मगर मेरी जैसी उनकी बहुतसी लड़कियाँ हैं । अगर उनमें एकाध ऐसी लड़की घट या बढ़ जाय तो इसमें उनका कोई नफा-नुकसान नहीं । मैंने कई बार उनके साथ लड़ाईके मैदानमें जानेकी कोशिश की, मगर वे कभी मुझे अपने साथ नहीं ले गये । इसीलिये मैं अबकी बार शाहजादा सलीमके साथ जबरदस्ती चली आई हूँ । मेरी एक और फुफेरी बहन है । उसका नाम दौलत-उन्निसा है ।

ईरा—वे कहाँ हैं ?

मेहर—वह मजेसे सो रही है । क्या कहूँ । उसकी नींद भी खूब है । मैं चिकोटियाँ काटकर भी उसे नहीं जगा सकती । भला, लड़ाईके इस हो-हुल्लड़में कहीं आदमीको नींद आ सकती है ? आप ही बतलाइए !

ईरा—चाचाजी ! मैं आपसे कुछ कहना चाहती हूँ ।

मेहर—हाँ हाँ, कहिए, शौकसे कहिए । मैं यहाँ मौजूद हूँ, इसका आप खयाल न करें । अगर आप यह चाहती हैं कि जो कुछ आप अपने चचासे कहें वह और किसीको मालूम न हो तो आप यकीन रखें कि मैं आपकी बात किसीको न बतलाऊँगी—चाहे मेरा सिर ही क्यों न कट जाय ! अगर हो सका तो मैं भी आप लोगोंकी बातोंमें शामिल हो जाऊँगी ! और नहीं तो कमसे कम चुपचाप सुना करूँगी । आपका नाम ईरा है न ? कैसा बढ़िया नाम पाया है ! और शक्ल-सूरत भी कितनी उम्दा और भोली है । हाँ हाँ, आप बात-चीत शुरू

करें। आप चुप क्यों हो गईं ? अच्छा, आप लोग बातचीत करें, तबतक मैं जाकर दौलत-उन्निसाको बुला लाती हूँ। वह आपको देख कर बहुत ही खुश होगी। (जल्दीसे प्रस्थान।)

शक्त०—कैसी विलक्षण लड़की है!—ईरा! क्या तुम अकेली आई हो ?

ईरा—हाँ।

शक्त०—तुम अकेली ही यहाँ कुशलपूर्वक कैसे पहुँच गईं ?

ईरा—कुशलपूर्वक पहुँचनेके लिये ही तो मैंने यह संन्यासिनीका वेश धारण किया है।

शक्त०—प्रतापको आनेका समाचार माळूम है ?

ईरा—जी नहीं, मैं उन्हें सूचना देकर नहीं आई हूँ।

शक्त०—प्रतापसिंह सकुशल तो हैं न ?

ईरा—हाँ शरीरसे तो अच्छे हैं।

शक्त०—वे क्या कर रहे हैं ?

ईरा—उन्हें इस समय युद्धका उन्मादसा हो रहा है। कभी सैनिकोंको शिक्षा देते हैं, कभी मंत्रणा करते हैं और कभी सामन्तोंको उत्तेजित करते हैं।

शक्त०—और हमारी भाभी ?

ईरा—वे भी अच्छी तरह हैं। परन्तु इधर दो दिनोंसे वे सोई नहीं हैं। पिताजीके सिरहाने बैठकर पहरा दिया करती हैं। पिताजी सोये सोये स्वप्न भी युद्धका ही देखते हैं। कभी सोये सोये चिल्ला उठते हैं कि 'आक्रमण करो' कभी किसीको डाँटते हैं और कभी कहते हैं कि "भय या चिन्ताकी कोई बात नहीं है" और कभी ठण्डी

साँस लेकर कहते हैं कि—" शक्त, अन्तमें सचमुच तुम अपनी जन्मभूमिके नाशके कारण हुए ! "

(दोनों थोड़ी देरतक चुपचाप खड़े रहते हैं ।)

ईरा—(कुछ देर बाद सिर झुकाकर) चाचाजी !

शक्त०—ईरा !

ईरा—आप जो पिताजीके भाई होकर उनके शत्रु मुगलोंसे मिल गये हैं और हिन्दू होकर भी हिन्दुओंके ही शत्रु बने हैं, इसका कोई कारण है ?

शक्त०—इसका कारण यही है कि तुम्हारे पिताने बिना अपराधके ही मुझे देशसे निकाल दिया है ।

ईरा—मैंने भी उस ब्रह्महत्याका हाल सुना है । जिस देशको नष्ट करनेके लिये आपने अस्त्र उठाया है उसी देशको बचानेके लिये उस गरीब ब्राह्मणने अपने प्राण दे दिये थे ! चाचाजी, आप एक बार उन सब पिछली बातोंको याद कीजिए । सालुंब्र-पतिने एक बार कृपा करके आपको मृत्युके मुखसे बचाया था । मेरे पिताजी—आपके भाई-स्नेहके कारण आपको सालुंब्रपतिके यहाँसे अपने यहाँ ले आये थे और आपका पालन करते थे । उन्हीं सालुंब्र-पतिके विरुद्ध और अपने उन्हीं भाईके विरुद्ध ही आपने यह अस्त्र उठाया है न? जिन्होंने किसी समय आपके प्राण बचाये थे, आज आप उन्हींके प्राण लेने पर तुले हुए हैं !

शक्त०—ईरा, ये सब बातें ठीक हैं । परन्तु तुमने यह नहीं कहा कि मैंने उसी भाईके विरुद्ध शस्त्र उठाया है जिसने मुझे देशसे निकाल दिया है ।

ईरा—यह बात ठीक है । परन्तु चाचाजी, यदि भाई किसी डरके कारण कोई अपराध कर बैठे तो फिर क्या इस संसारमें 'क्षमा' कोई चीज ही नहीं है ? क्या क्षमा केवल शब्दकोश और कहानियोंमें ही रहनेके लिये है ? चाचाजी, जरा इस हरी-भरी भूमिकी ओर देखिए । जो लोग दिन रात इसे पैरोंसे रौंदते और हलोंसे काटते हैं, उन्हींको यह सदा अनेक प्रकारके अन्न देती है । इस पेड़को देखिए। पशु इसे नित्य नोंच नोंचकर खाते हैं, परन्तु उन्हीं पशुओंके लिये यह नित्य नये पत्ते उत्पन्न करता है । हिंसाकी भाप समुद्रसे उठती है, मेघ उत्पन्न करती है, आकाशमें क्रोधसे गरजती है; परन्तु फिर भी वह तुरन्त शीतल होकर आशीर्वादकी भाँति समुद्र पर मीठे जलकी मूसलधार वर्षा करती है ! क्या संसारमें हिंसा, द्वेष और विवाद ही सब कुछ है ?

शक्त०—ईरा, पृथ्वीमें क्षमा अवश्य है, परन्तु साथ ही साथ बदला लेना भी तो कोई चीज है। मैंने बदला लेनेको ही अच्छा समझा है।

ईरा—चाचाजी ! काहेका बदला ? आपको देश-निकालेका जो दण्ड मिला है उसीका बदला ? क्या पिताजीने विना किसी दोष या अपराधके ही आपको देशसे निकाल दिया था ? जिस द्वन्द्व-युद्धके कारण उस दिन वह ब्रह्महत्या हुई थी पहले वह द्वन्द्वयुद्ध करनेके लिये किसने कहा था ? और फिर यदि पिताजीने आपको विना किसी अपराधके ही देश-निकालेका दण्ड दिया हो तौ भी क्या उससे पहले उन्होंने आपको स्नेहपूर्वक अपने पास लाकर नहीं रखा था; और पुत्रकी भाँति आपका पालन नहीं किया था ?

शक्त०—परन्तु उससे पहले मैं अन्यायपूर्वक निकाल दिया गया था—अनुचित रूपसे मुझे त्याग कर दिया गया था ।

ईरा—यह अन्याय पिताजीने नहीं किया था। राणा उदयसिंहने जो कुछ किया हो उसके लिये पिताजी उत्तरदायी नहीं हैं। पिताजीने एक बार आपको आश्रय दिया था और फिर उन्होंने आपको अलग कर दिया। तो फिर इसके लिये बदला लेना कैसा ? क्या उपकार कोई चीज ही नहीं है और वह इस प्रकार भुलाया जा सकता है ? और केवल अपकारका स्मरण रखना चाहिए ?

शक्त०—(बहुत ही स्तम्भित होकर—स्वगत) हैं ! क्या सचमुच मेरी ही भूल है ? यदि ऐसा न होता तो मैं इस जरासी लड़कीके जरासे प्रश्नपर चुप हो जाता ! (कुछ देरतक सोचनेके उपरान्त) ईरा, मेरी समझमें नहीं आता कि मैं तुम्हारी बातोंका क्या उत्तर दूँ। अच्छा, मैं इन बातोंपर विचार करूँगा।

ईरा—चाचाजी ! यह समस्या कुछ बहुत कठिन नहीं है। और न आप कुछ ऐसे नासमझ ही हैं जो ऐसी सहज बातोंको न समझ सकें। और फिर यदि यह भी मान लिया जाय कि आपका बदला लेना ही उचित है, तौ भी अपराध तो पिताजीने किया है न ? तो फिर आपको पिताजीसे बदला लेना चाहिए, न कि अपने देशसे। इस बेचारी जन्मभूमिने आपका क्या अपराध किया है ? उसके साथ आपका इतना द्वेष क्यों है ? आज आप उसी देशको नष्ट करनेके लिये मुगलोंकी इतनी फौज बुला लाये हैं जिस देशकी रक्षा करनेके लिये पिताजी इस समय अपने प्राणतक देनेको तैयार हैं ! अपने देशको दूसरोंके हाथमें सौंप देना, अपनी जातिको दूसरोंके पैरोंसे कुचलवाना कोई अच्छा काम नहीं है। यह मनुष्योंका बदला चुकाना नहीं है—राक्षसोंका बदला चुकाना है। यदि दो भाईयोंमें आपसमें

झगड़ा हो तो वे दोनों अपनी माताको मारनेके लिये उतारू नहीं हो जाते।

शक्त०—परन्तु ईरा! मैं तो बचपनसे ही अपनी माता जन्मभूमिकी गोदसे अलग रहा हूँ।

ईरा—जो हो, पर फिर भी वह जन्मभूमि ही है।

शक्त०—जिस जन्मभूमिका मुझपर कोई ऋण न हो वह मेरे लिये नाम मात्रकी ही जन्मभूमि है।

ईरा—आपपर उसका चाहे कोई ऋण न हो, पर फिर भी विना अपराध उसे मुगलोंके पैरोंसे कुचलवाना क्या अन्याय और अत्याचार नहीं है? यदि पिताजीने आपके साथ कोई अन्याय किया हो तो इसके लिये वही उत्तरदायी हो सकते हैं, न कि मेवाड़ देश।

शक्त०—(कुछ सोचकर) ईरा! तुम्हारी बातें बहुत कुछ ठीक जान पड़ती हैं, परन्तु फिर भी मैं सोचूँगा। यदि मुझे अपना ही अन्याय जान पड़ेगा तो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि यथासाध्य उसका प्रतिकार करूँगा। परन्तु देखता हूँ कि मैं बहुत दूरतक आगे बढ़ आया हूँ और अब मेरे पीछे लौटनेका रास्ता नहीं है।

ईरा—चाचाजी! मैं तो स्वयं युद्धका ही विरोध करती हूँ। मैंने सदा पिताजीको युद्ध करनेसे रोका है। परन्तु वे मेरी बात नहीं सुनते। परन्तु जब युद्ध होगा ही, तब मेरी सहानुभूति पिताजीके साथ होगी। इसका यह कारण नहीं है कि वे पिता हैं और मुगल शत्रु हैं। बल्कि इसका कारण यह है कि मुगल आक्रमण करनेवाले हैं और पिताजीपर आक्रमण किया जायगा। इसके सिवाय मुगल बलवान् हैं और पिताजी निर्बल।

शक्त०—ईरा ! मेरी भूल है और तुम्हारी ही बातें बहुत ठीक हैं । अच्छा अब मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि यथासाध्य इसका प्रतिकार करूँगा ।

ईरा—मैं ईश्वरसे प्रार्थना करती हूँ कि वह आपकी इस चेष्टाको सफल करे । अच्छा, तो आज्ञा दीजिए । अब मैं चलूँ ।

शक्त०—चलो, मैं तुम्हें पहुँचा आऊँ ।

ईरा—जी नहीं, मैं सन्यासिनी हूँ । मुझे कोई न रोकेगा । अच्छा, चाचाजी, अब मैं जाती हूँ । प्रणाम !

शक्त०—अच्छा बेटी, चिरंजीवी हो । (ईराका प्रस्थान ।)

शक्त०—मुझे अपने विद्वान् और बुद्धिमान् होनेका बड़ा अहंकार रहता है । परन्तु आज मैं इस जरासी लड़कीसे हार गया । क्या सचमुच ही मैंने एक बहुत बड़े अन्यायका सूत्रपात किया है ? क्या इसमें अपराध मेरा ही है ? जरा सोचूँ तो सही । (चिन्तित-भावसे खड़े रहते हैं ।)

[दौलत-उन्निसाको साथ लिये हुए मेहर-उन्निसा आती है ।]

मेहर—ईरा कहाँ है ?

शक्त०—चली गई ।

मेहर—चली गई ! वाह ! यह कैसी बात है ! मैं तो इस लिये दौलतको बुलाने गई थी कि आकर इससे और ईरासे मुलाकात कराऊँगी और हम लोग मिलकर बात-चीत करेंगे । और आपने हम लोगोंके आनेसे पहले ही उसे निकल जाने दिया ! वाह साहब ! यह कैसी बात है ?

शक्त०—माफ कीजिएगा । मैं भूल गया था कि आप इन्हें बुलानेके लिये गई हैं ।

मेहर—वाह साहव, भूल कैसे गये थे ? शायद मैं आपके खेमेमें विना बुलाये चली आई थी, इसीका यह नतीजा है । मगर आपने इस वातका खयाल नहीं किया कि मैं कौन हूँ । शाहंशाह अकबरकी लड़कीकी वात भले ही भुला दी जाती मगर एक शरीफ औरतका तो खयाल रखना था ! मैं खुद इतनी तकलीफ उठाकर और दौलतको इतनी तकलीफ देकर यहाँतक लाई सो क्या सिर्फ आपकी शक्ल देखनेके लिये ?

शक्त०—अगर ऐसा ही हो तो भी इसमें हर्ज ही क्या है !

मेहर—इसमें तो कोई शक नहीं कि आपकी शक्ल भी देखने ही लायक है । लेकिन इतना है कि अगर आपकी नाक कुछ और छोटी होती तो बहुत अच्छा होता !

शक्त०—क्या यही आपकी वहन हैं ?

मेहर—हाँ, यही मेरी वहन दौलत-उन्निसा है । देखते हैं, कैसी खूबसूरत है ! वहन दौलत, यह घूँघट जरा तो और हटा दो !

दौलत—(घूँघट और भी ज्यादा खींचकर) अजी जाओ भी !

मेहर—अजी जरा घूँघट खोल दो ! इसमें हर्ज ही क्या है ? तुम्हारा चेहरा कोई गुलावजामुन तो है ही नहीं कि जो देखेगा वह उठा लेगा और चटसे मुँहमें डाल लेगा ! मेरी वात मानो और घूँघट खोलो । फिर घर चलकर शीशेमें अच्छी तरह देख लेना । अगर जरा भी घिसा या खराब हुआ तो फिर जो तुम्हारे जीमें आवे सो करना । मुझे ऐसी शरम अच्छी नहीं मालूम होती । यह मुसलमानोंका एक भद्दा रिवाज है ।—लो मैं यह मानती हूँ शक्तसिंहजी ! कि अगर आपके बड़ोंने अपनी औरत पद्मिनीका चेहरा अलाउद्दीनको न दिखलाया होता तो आज चित्तौरकी तवारीख कुछ और ही होती !—लो

बहिन ! अब घूँघट खोल दो । (जबरदस्ती दौलतका घूँघट हटाकर) जी हाँ, लीजिए, अब अच्छी तरह देखिए । देखते हैं, कैसी उम्दा शक्ल पाई है ?

शक्त०—इसमें तो शक नहीं कि शक्ल बहुत ही अच्छी है। मैंने आजतक ऐसी खूबसूरती कभी नहीं देखी । समझमें नहीं आता कि किस तरह इसकी तारीफ की जाय ।

मेहर—खैर, आप न कीजिए, मैं ही तारीफ किये देती हूँ । जैसे अँधेरी रातमें इसराजकी पहली झनकार हो, सुनसान जंगलमें बिना खिली गुलाबकी कली हो, पहले वसन्तमें पहली हवाका बढ़िया झोंका हो । क्यों, ठीक तारीफ हो रही है या नहीं ?

दौलत—अजी जाओ भी !

मेहर—जैसे चढ़ती जवानीमें पहली मुहब्बतका ख्वाब—

(दौलत दोनों हाथोंसे मेहरका मुँह बन्द कर देती है ।)

मेहर—छोड़ो छोड़ो, मेरा दम घुटता है । (शक्तसे) मैंने किस्से कहानियोंमें खूबसूरतीके बहुतसे बयान पढ़े हैं । मगर मैं खुद इसका ऐसा अच्छा बयान कर सकती हूँ जैसा कि हाफिज और फैजीने भी न किया हो ।

शक्त०—वह क्योंकर ?

मेहर—अगर इस सूरतका बनानेवाला खुदा इसमें और भी ज्यादा खूबसूरती पैदा करनेकी कोशिश करता तो सच मानिए कि यह सूरत और भी खराब हो जाती !—इससे अच्छी हरगिज न हो सकती । (दौलतसे) क्यों बहन, तुम (शक्तकी ओर इशारा करके) इनकी तरफ टक लगाकर क्यों देख रही हो ? कहीं शक्तसिंहकी मुहब्बतमें तो नहीं पड़ गई !

दौलत—चलो हटो, मुझे ये बातें अच्छी नहीं लगतीं !

मेहर—मुझे तो सब मुहब्बतके ही आसार नजर आते हैं। टक लगाकर देखना, नजरसे नजर मिल जानेपर नीची आँख कर लेना, कानोंकी जड़ तक सारे चेहरेका लाल हो जाना, और फिर इसके ऊपर यदि कोई छेड़ छाड़ करे तो उससे कहना 'चलो हटो, मुझे ये बातें अच्छी नहीं लगतीं।'—किताबोंमें लिखी हुई सभी बातें बराबर मिलती हैं! अरे तू यह करती क्या है! कहीं इनका जादू तो नहीं चल गया! ये तो हैं राजपूत और हम लोग हैं मुगल!—मगर इसमें हर्ज ही क्या है! वालिद हैं मुगल और अम्मा हैं राजपूत; उनका भी तो विवाह हुआ है!

(दौलत जाने लगती है। शक्तसिंह उसकी ओर कुछ बढ़ते हैं। पर वह झपटकर निकल जाती है।)

मेहर—वाह साहब! आपकी भी वही हालत नजर आती है! सब समझ गई! नहीं तो आपको उसे रोकनेका क्या हक था? मगर जनाब, इस तरह लड़ाईके मैदानमें आकर मुहब्बतमें फँस जानेकी बात तो मैंने अब तक किसी भी किस्से-कहानीमें नहीं पढ़ी। देखिए, सब काम मौका समझ बूझकर कीजिएगा। और आगे कभी ऐसा काम न कीजिएगा। (हँसते हुए प्रस्थान।)

शक्त०—ये दोनों लड़कियाँ कैसी विलक्षण हैं! दौलत कितनी सुन्दरी है और मेहर कितनी पण्डिता है। दौलतको तो बराबर देखते रहनेकी इच्छा होती है। और मेहर-उन्निसा भी देखने ही योग्य है। दोनों कैसी चपल, कैसी रसिक और कैसी हँसमुख हैं!

पाँचवाँ दृश्य ।

स्थान—हलदी घाटी । प्रतापसिंहका खेमा ।

समय—आधी रात ।

[प्रतापसिंह अकेले छातीपर दोनों हाथ बाँधे खड़े हैं और
दूर किसी चीजकी ओर देख रहे हैं ।]

प्रताप—(सूखे हुए कण्ठसे) मानसिंह मेरे आक्रमणकी प्रतीक्षा कर रहे हैं और मैं उनके आक्रमणकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ । मैं उनपर पहले आक्रमण न करूँगा । मैं कोमलमीरकी—इसी घाटीकी—रक्षा करूँगा । मैं उनपर आक्रमण कर देता; परन्तु उधर तो अस्सी हजार सुशिक्षित मुगल सैनिक हैं और इधर केवल बाईस हजार नौसिखुए राजपूत हैं ! इसके सिवा मुगलोंके पास तोपें हैं और मेरे पास नहीं हैं । हाय ! यदि इस समय मुझे कहींसे केवल पचास ही तोपें मिल जातीं तो उनके लिये मैं अपना यह दाहिना हाथतक कटवा डालनेको तैयार था । बस और कुछ नहीं, मुझे केवल पचास तोपें चाहिए थीं ।

[प्रतापसिंहका जल्दी जल्दी इधर उधर टहलने लगना । इतनेमें
गोविन्दसिंहका आना ।]

गो०—राणाजीकी जय हो ।

प्रताप—कौन ? गोविन्दसिंह ?

गो०—हाँ, राणाजी !

प्रताप—इतनी रातको कैसे आये ?

गो०—एक विशेष समाचार था ।

प्रताप—वह क्या ?

गो०—मानसिंहने अपना विचार बदल दिया ।

प्रताप—वह कैसे ?

गो०—शक्तसिंहने उन्हें कोमलमेरका सुगम मार्ग दिखला दिया है। इसीलिये मानसिंहने अपने कुछ सैनिकोंको उसी मार्गसे कोमलमेरकी ओर बढ़नेकी आज्ञा दी है।

प्रताप—शक्तसिंहने ?

गो०—हाँ, राणाजी। सलीम और मानसिंहमें सैन्य-संचालनके सम्बन्धमें विवाद हुआ था। सलीमने हम लोगोंपर आक्रमण करनेकी आज्ञा दी थी। परन्तु मानसिंहने उस आज्ञाका विरोध किया। इसके उपरान्त शक्तसिंहने पहुँचकर मानसिंहको कोमलमेरका सुगम मार्ग दिखला दिया। अब मानसिंहने उसी मार्गसे मुगलोंको इधर भेजनेका विचार किया है।

प्रताप—(ठण्डी साँस लेकर) गोविन्दसिंह ! बस अब अधिक विलम्ब करनेकी आवश्यकता नहीं है। सामन्तोंको आज्ञा दे दो कि कल तड़के ही शत्रुओंकी छावनीपर आक्रमण कर दिया जाय। अब हम लोग शत्रुओंके आक्रमणकी प्रतीक्षा न करेंगे। हम ही लोग पहले आक्रमण करेंगे। जाओ। (गोविन्दसिंहका प्रस्थान।)

प्रताप—(टहलते हुए, स्वगत) शक्तसिंह ! शक्तसिंह ! हाँ, अवश्य ही यह शक्तसिंहका काम है। मुझे ज्योतिषीजीकी वह बात याद है कि शक्तसिंह ही मेवाड़का सर्वनाश करेंगे। शायद अब कोई आशा नहीं रही। अब ज्योतिषीजीकी बात ही ठीक होगी। अच्छी बात है ! ऐसा ही सही ! यदि मैं चित्तौरका उद्धार नहीं कर सकता तो उसके लिये प्राण तो दे सकता हूँ।

[पीछेसे लक्ष्मीका प्रवेश।]

ल०—प्राणनाथ ! क्या अबतक आप जाग ही रहे हैं ?

प्रताप—कितनी रात गई होगी ?

ल०—आधी रात बीत गई। आप अभीतक सोये नहीं ?

प्रताप—मुझे तो नींद ही नहीं आती।

ल०—आपको चिन्ताके कारण ही नींद नहीं आती। आप इन सब चिन्ताओंको दूर कीजिए। युद्ध तो क्षत्रियोंका काम ही है। हार और जीत तो भाग्यके अनुसार होती है। जो कुछ होना होगा; वही होगा। और फिर जीना-मरना भी तो क्षत्रियोंके लिये लड़कोंका खेल ही है। तब फिर चिन्ता किस बातकी ?

प्रताप—मैंने आज्ञा की है कि कल तड़के ही मुगलोंकी छावनी-पर आक्रमण किया जाय। बस उसीकी चिन्ताके कारण मेरा सिर घूम रहा है। शरीरका सारा रक्त मस्तकमें जा पहुँचा है। मुझे नींद नहीं आ रही है।

ल०—जैसे हो, आप इस चिन्ताको दूर कीजिए। कल युद्ध होगा। उसमें आपको बहुत कुछ चिन्ता करनी पड़ेगी, बहुत कुछ परिश्रम करना पड़ेगा और बहुतसे कष्ट भी सहने पड़ेंगे। इस समय थोड़ा सो लीजिए। सबेरे आपके शरीरमें नया जीवन, नया तेज और नया उत्साह आ जायगा।

प्रताप—मैं सोना तो चाहता हूँ परन्तु मुझे नींद ही नहीं आती। मैं जानता हूँ कि सोनेसे शरीर हलका हो जाता है, उसमें नया जीवन, नया तेज और नया उत्साह आ जाता है। फुर्ती भी बढ़ जाती है। परन्तु मुझे नींद ही नहीं आती। हाय! मेरी आँखोंमें कौन नींद ला सकता है।

ल०—आइए; मैं आपको सुलानेका प्रयत्न करूँ!

[दोनोंका खेमेके अन्दर जाना।]

छठा दृश्य।

स्थान—मेहर और दौलतके खेमोंका वाहरी भाग।

समय—आधी रात।

[मेहर-उन्निसा अकेली गाती हुई टहल रही है।]

गीत।

मनको सदा मना मैं करती।
मत तुम प्यार करो उसको मैं कभी न उसपर मरती॥
वह उसके चरणोंमें उतना और लोटने लगता।
ज्यों ज्यों उसे छुडाना चाहूँ त्यों वन्धनमें पड़ती॥
बाँध बाँधती हूँ मैं जितना उसे रोकनेको हाँ।
प्रेम नदी आँसू बन बहकर उसे तोड़ती रहती।

[दौलतका प्रवेश।]

दौलत—क्यों बहन, तुम इतनी राततक जाग रही हो?

मेहर—और तुम क्या सो रही हो?

दौलत—मुझे तो नींद नहीं आती।

मेहर—बस मेरी भी ठीक वही हालत है। मुझे भी नींद नहीं आती।

दौलत—क्यों, तुम्हें नींद क्यों नहीं आती?

मेहर—वाह! यही बात तो मैं तुमसे पूछना चाहती थी। कैसा मेल मिलता जा रहा है! क्यों जी, तुम्हें नींद क्यों नहीं आती?

दौलत—क्या तुम बातको इस तरह उड़ाती ही रहोगी?

मेहर—बस, अब हो चुका। तुम्हारी इस बातका जवाब मेरे पास नहीं है। अब मैं तुमसे हार गई—पूरी तरहसे हार गई। अच्छा सुनो, रात बहुत बीत चुकी है—तुम्हारे लिये भी और मेरे लिये भी।

दोनों ही जागती हैं—तुम भी और मैं भी। दोनोंके जागनेका सबब भी एक ही है—नींद नहीं आती। अगर तुम पूछो कि नींद क्यों नहीं आती? तो इसकी भी वजह दोनोंके लिये एक ही है। और वह वजह न तो तुम बतला सकती हो और न मैं बतला सकती हूँ।

दौलत—क्यों?

मेहर—कह तो रही हूँ कि वह वजह बतलाई नहीं जा सकती।

दौलत—आखिर क्यों?

मेहर—यही तो तुममें बड़ी खराबी है। हर बातमें तुम जिद कर बैठती हो। देखो सुनो, तुम्हें कुछ सुनाई पड़ता है?

दौलत—क्या?—

मेहर—ऊः, मुगल सिपाही कैसी बुरी तरहसे सो रहे हैं।

दौलत—मैं पूछ रही हूँ कि नींद क्यों नहीं आती?

मेहर—उन लोगोंका खर्राटा यहाँतक सुनाई पड़ता है।

दौलत—आः पहले मेरी बातका जवाब दो।

मेहर—तुम्हें वह राजपूतोंकी मशालें दिखलाई पड़ रही हैं?

दौलत—मतलबकी बात फिर भी न कही?

मेहर—शायद वे लोग पहरा दे रहे हैं।

दौलत—जाओ, मैं तुम्हारी बात सुनना नहीं चाहती।

मेहर—नहीं नहीं, सुनो।

दौलत—नहीं, मैं नहीं सुनती।

मेहर—नहीं, सुन लो।

दौलत—नहीं, तुम चुप रहो।

मेहर—मैं तो बोलूँगी।

दौलत—मैं सुनूँगी ही नहीं।

मेहर—तुम्हें सुनना पड़ेगा।

(दौलत मुँह फेरकर खड़ी हो जाती है। मेहर उसका मुँह अपनी तरफ करना चाहती है। मगर वह ज्योंकी त्यों खड़ी रहती है।)

मेहर—अच्छा तो फिर नहीं सुनोगी न? आः (जँभाई लेकर) मुझे तो नींद आ रही है। अब मैं जाकर सोती हूँ।

दौलत—कहाँ जाओगी? बतलाये जाओ।

मेहर—तुम तो अभी कहती थीं न कि मैं सुनूँगी ही नहीं?

दौलत—नहीं, मैं कुछ सोच रही थी।

मेहर—मैं भी सोच रही थी।

दौलत—क्या?

मेहर—यही कि मैंने जो कुछ समझा था वह ठीक है या नहीं। मगर अब मुझे वह ठीक माळूम होता है। मैंने किस्से-कहानियोंमें जो कुछ पढ़ा था वह सब ठीक ठीक मिल रहा है! ऐसी हालतमें लोगोंको रातभर नींद नहीं आती। वे लुक छिपकर चोरी चोरी कुछ सोचा करते हैं कि वह मुझे मिलेगा या नहीं मिलेगा। और इससे भी बढ़कर यह फिक्र होती है कि कहीं किसीको खबर तो नहीं हो गई! कहीं कोई देख तो नहीं रहा है! जैसे जब कोई फिसलकर गिर पड़ता है, तो सबसे पहले यही उसे फिक्र होती है कि कहीं किसीने देख तो नहीं लिया! क्यों बहन, आखिर तुम मुझसे छिपाती क्यों हो? मैं तुम्हारे प्यारेको छीन नहीं लूँगी। शक्त—

(दौलत दोनों हाथोंसे मेहरका मुँह बन्द कर देती है। मगर मेहर उसके हाथ हटा देती है।)

मेहर—क्यों, मैंने तुम्हारी बीमारी ठीक ठीक समझ ली न? कैसा सिर झुका लिया—शरमा गईं?

दौलत—जाओ, हटो ।

मेहर—अच्छा जाती हूँ । (जाना चाहती है ।)

दौलत—चलीं कहाँ ? एक बात सुनो ।

मेहर—(घूमकर) कहो क्या कहती हो ? फिर चुप हो गईं ! बतलाओ, मैंने तुम्हारी बीमारी ठीक ठीक समझ ली न ?

दौलत—हाँ बहन, समझ तो ली, मगर आखिर कुछ उम्मेद भी है ?

मेहर—उम्मेद ! उम्मेद कैसी ? साफ साफ क्यों नहीं कहतीं ? पहेलियाँ क्यों बुझाती हो ? अच्छा खैर रहने दो, मैं समझ गई। उम्मेद क्यों नहीं है ? यह कोई नई बात तो है ही नहीं । मुगलों और राजपूतोंमें अकसर ब्याह-शादी हुआ करती है ।

दौलत—मगर उन्हें जो मंजूर नहीं है ?

मेहर—यह तुमने कैसे जाना कि उन्हें मंजूर नहीं है ?

दौलत—उन्हें बड़ा घमंड है । वे राजपूत राणा उदयसिंहके लड़के हैं ।

मेहर—तुम भी तो घमंडी मुगल बादशाह हुमायूँकी नतिनी हो । तुम किससे कम हो ?

दौलत—अगर मुमकिन हो तो—

मेहर—यही न कि एक बार कोशिश करके देख लिया जाय ? अच्छी बात है । तुम यह काम मेरे ऊपर छोड़ दो । लेकिन फिर भी—अगर इस कामको और कोई अपने जिम्मे ले लेता तो ज्यादा अच्छा होता ।

दौलत—क्यों ?

मेहर—अब इस बातको जाने दो। देखूँ, मैं इस रिश्ता जोड़नेके हुनरमें कामयाब होती हूँ या नहीं ।

दौलत—आखिर तुम क्या समझती हो कि क्या होगा ?

मेहर—मैं समझती बमझती तो कुछ नहीं, हाँ इतना जानती हूँ कि काम हो जायगा। यह तो तुम जानती ही हो कि मैं जिस कामको हाथमें लेती हूँ उसे बिना पूरा किये नहीं छोड़ती, चाहे मेरी जान ही क्यों न चली जाय। और फिर सच तो यह है कि मुझे भी इस बातमें कुछ मजा आ रहा है।

दौलत—इसका क्या मतलब ?

मेहर—शक्तसिंहसे तुम्हारी पहली मुलाकात मैंने ही कराई है। अब उस मुलाकातको बिना आखीरतक पहुँचाये मुझे चैन क्यों कर आ सकता है ? इतनी मेहनतसे तो मैंने सब सामान इकट्ठा किया। अब अगर मैं इमारत खड़ी न करूँ तो मेरे मेहनत करनेसे फायदा ही क्या निकला ? मैं कभी कोई काम अधूरा नहीं करती। हरएक काम पूरा करके छोड़ती हूँ। अच्छा चलो चलकर सोएँ। मगर अब तो निगोड़ी रात ही खतम हो गई।

दौलत—चलो चलें। तुमसे और क्या कहूँ !

मेहर—कहनेकी कोई जरूरत ही नहीं। तुम जाओ, मैं भी जाती हूँ। (दौलतका प्रस्थान।)

मेहर—या खुदा ! अब तुम्हीं निगहबान हो। बेचारी दौलत यह बात नहीं जानती कि वह जिसे चाहती है उसीको मैं भी चाहती हूँ। मगर इस बातकी उसको खबर नहीं होनी चाहिए। या खुदा ! या तो यह बात तुमको ही मालूम रहे और या मुझको ही। तुम मुझे ऐसी ताकत दो जिसमें मैं दौलत-उन्निसाके दिलकी ख्वाहिश पूरी कर

सकूँ । बस फिर मेरी ख्वाहिश आप ही आप पूरी हो जायगी । मैं अपने लिये और कुछ नहीं चाहती । सिर्फ यही चाहती हूँ कि अगर मुमकिन हो तो मेरी यह जबर्दस्त ख्वाहिश दब जाय । या खुदा ! बस मुझे इतनी ही ताकत दे । मेरे इस नाजुक दिलको मजबूत कर । मेरे दिलमें इस वक्त मुहब्बतका जो जोश पैदा हुआ है उससे दूसरोंको फायदा पहुँचे ।

सातवाँ दृश्य ।

स्थान—हल्दीघाटीका युद्धक्षेत्र ।

समय—प्रभात ।

[प्रतापसिंह और बहुतसे राजपूत सरदार खड़े हैं ।]

प्रताप—भाइयो, आज युद्धका दिन है । इतने दिनोंतक मैंने जिस शिक्षाकी तैयारी की है, आज उसकी परीक्षाका दिन है। भाइयो ! मैं जानता हूँ कि मुगलोंकी सेनाके सामने हमारे सैनिक मुट्ठी भर हैं । लेकिन फिर भी एक बात है । राजपूत सैनिक चाहे गिनतीमें थोड़े ही हों परन्तु फिर भी उनमें शक्ति है—उनमें बल है । मुझे यह कहते बहुत ही लज्जा आती है, गला रुँध जाता है, आँखोंमें जल भर आता है कि इस युद्धमें हमारे ही देशके राजा, मेरे भाई और भतीजे तक, शत्रुओंके साथ मिले हुए हैं और मेरे विपक्षी हैं। परन्तु मेरा शिविर भी खाली नहीं है । सलूंबरपति, झालापति चण्ड और पुत्ताकी सन्तान इस युद्धमें मेरी ओर हैं । इस युद्धमें न्याय हमारी ही ओर है, धर्म हमारी ही ओर है और राजपूतोंके कुल-देवता भी हमारी ही ओर हैं । हम लोग यह युद्ध अपने देश, अपनी स्वाधीनता, अपनी स्त्रियों और अपनी कन्याओंके लिये कर रहे हैं । और हमारे शत्रु मुगल लोग

युद्ध कर रहे हैं हमें इन सब बातोंसे वंचित करनेके लिये। युद्धमें जय अथवा पराजय होना ईश्वरके हाथ है। हम लोगोंके हाथमें केवल युद्ध करना है और हम लोग युद्ध करेंगे। हम लोग ऐसा युद्ध करेंगे जो मुगलोंको सैकड़ों बरसतक याद रहेगा। ऐसा युद्ध करेंगे जो इतिहासके पृष्ठोंपर सोनेके अक्षरोंसे लिखा जायगा। ऐसा युद्ध करेंगे जिससे मुगलोंका सिंहासन तक काँप उठेगा। भाइयो! यह बात याद रखना कि हमारे विरुद्ध और कोई नहीं, स्वयं अकबर बादशाह है। और इस लड़ाईमें उसका लड़का सलीम और सेनापति मानसिंह स्वयं आया है। आज ऐसा ही युद्ध होना चाहिए जो ऐसे विपक्षीके मुकाबलेमें शोभा दे!

सब—जय, राणा प्रतापसिंहकी जय!

प्रताप——भाई रामसिंह और भाई जयसिंह! तुम लोग यह स्मरण रखना कि तुम लोग बेदनोरपति जयमलके पुत्र हो। उसी जयमलके पुत्र हो जिसके प्राण चित्तौरकी रक्षा करते समय अकबरकी गुप्त बन्दूककी गोलीसे निकले थे। संग्रामसिंह! तुम्हारा जन्म सीसोदिया वीर उन्हीं पुत्ताके वंशमें हुआ है जिन्होंने केवल १६ वर्षकी उम्रमें अपनी माता और स्त्रीके साथ चित्तौरमें घिरकर युद्ध किया था। देखो, उन लोगोंका अपमान न होने पावे। सलूंबर-नरेश गोविन्दसिंह, चण्डावत रोहिदास, झालापति माना तुम्हारे पूर्वपुरुषोंने भी स्वाधीनताके लिये युद्धमें प्राण दिये हैं। स्मरण रखना कि आजका युद्ध भी उसी स्वाधीनताके लिये है। उनकी कीर्तिका स्मरण करते हुए युद्धकी आगमें कूद पड़ो। (प्रस्थान।)

सब—जय, राणा प्रतापसिंहकी जय! (प्रस्थान।)

(कुछ दूरपर भेरी और दमामा बजता है।)

दृश्यान्तर (१)

स्थान—हल्दीघाटीका युद्धक्षेत्र ।

समय—प्रभात ।

[सलीम और महावतखाँ खड़े हैं ।]

महावत—शाहजादा साहब ! आप प्रतापसिंहको पहचानते हैं ?

सलीम—नहीं ।

महावत—यह जो सामने लाल झंडा दिखलाई देता है उसीके नीचे खड़े हैं । उनका काला घोड़ा कितना उम्दा है ! उनकी कैसी चौड़ी छाती और कितना रोबीला चेहरा है । हाथमें नंगी तलवार है, बगलमें भाला है । यही प्रताप हैं !

सलीम—और उनके दाहिने कौन है ?

महावत—झालावाड़के राजा माना ।

सलीम—और बाएँ ?

महावत—सलूंबरके राजा गोविन्दसिंह ।

सलीम—देखिए सब लोग आगे बढ़ रहे हैं । उनके चेहरेसे इत-मीनान और मजबूती टपक रही है । वे हम लोगोंपर हमला करनेके लिये आ रहे हैं । मगर हम लोगोंके सिपाहियोंको देखिए—पत्थरकी मूरतकी तरह खड़े हैं । इन्हें हमला करना चाहिए ।

महावत—नहीं, राजा मानसिंहका हुक्म है कि पहले उन्हें हमला करने देना चाहिए ।

सलीम—नहीं, यह बेवकूफी है । मैं दुश्मनपर हमला करूँगा ।

महावत—नहीं शाहजादा साहब, राजा मानसिंहका कुछ और ही हुक्म है ।

सलीम—मानसिंहका हुक्म ! मानसिंहका हुक्म मेरे लिये नहीं है। कोई है ? मेरे पाँच हजार सवारोंको बुलाओ। मैं दुश्मनपर हमला करूँगा।

महावत—शाहजादा साहब ! आप फजूल इस जलती हुई आगमें कूदनेकी कोशिश न करें।

सलीम—महावत, तुम भी मेरी बात नहीं मानते ? जाओ, इसी दम चले जाओ।

महावत—बहुत बेहतर। (प्रस्थान।)

सलीम—मानसिंहका इतना हौसला ! क्या मेरी ताकत और मेरा अख्तियार एक मामूली सिपहसालारके बराबर भी नहीं है ? लोग मुझे कोई चीज ही नहीं समझते ! मानसिंह, तुम्हारा दिमाग बहुत चढ़ गया है ! अच्छा, इस लड़ाईको खतम होने दो। मैं तुम्हारे सब हौसले पस्त कर दूँगा। (प्रस्थान।)

दृश्यान्तर (२)

स्थान—हल्दीघाटीका युद्धक्षेत्र।

समय—तीसरा प्रहर।

[प्रतापसिंह और उनके सरदार हथियार लिये हुए घोड़ोंपर सवार हैं।]

प्रताप—मानसिंह कहाँ है ?

माना—वह अपने खेमेमें है ? राणाजी, आप अपना मुकुट मुझे दे दीजिए !

प्रताप—क्यों ?

माना—इसीके कारण सब लोग आपको पहचानते हैं।

प्रताप—तो फिर इससे क्या ?

माना—शत्रुओंके दल आपको पहचानकर आपकी ही तरफ बढ़े आ रहे हैं ।

प्रताप—अच्छी बात है, आने दो । प्रतापसिंह लुक-छिपकर युद्ध नहीं करना चाहते । सलीम, महाव्रत और मानसिंह सबको माल्रम होना चाहिए कि मैं प्रतापसिंह हूँ । उनमें शक्ति हो और साहस हो तो आवें मेरे सामने ।

माना—राणाजी—

प्रताप—बस माना, चुप रहो । यही सलीम है न ?

रोहि०—हाँ राणाजी ।

[हाथमें नंगी तलवार लिये सलीमका प्रवेश ।]

सलीम—तुम्हीं प्रतापसिंह हो ?

प्रताप—हाँ, मैं ही प्रतापसिंह हूँ ।

सलीम—मैं शाहजादा सलीम हूँ । आओ मुझसे लड़ो ।

प्रताप—वाह, बहुत अच्छा हौसला है ! आ जाओ !

(दोनों युद्ध करते हैं । सलीम पीछे हटने लगता है । इतनेमें बहुतसे सैनिकोंके साथ महावतखाँ आकर प्रतापसिंहपर आक्रमण करते हैं और सलीम वहाँसे हट जाता है ।)

प्रताप—कौन, कुलांगार महाव्रत ? (अपनी आँखें ढक लेते हैं ।)

महाव्रत—हाँ, मैं ही हूँ ।

(महावत खाँ सैनिकोंके साथ प्रतापसिंहपर आक्रमण करते हैं । इतनेमें ही पीछेसे कुछ और सैनिक आकर प्रतापसिंहपर आक्रमण करते हैं । प्रतापसिंह बहुत घायल हो जाते हैं । माना आगे बढ़कर प्रतापसिंहको बचाना चाहते हैं और बीचमें ही घायल होकर गिर पड़ते हैं ।)

माना—राणाजी, मैं बहुत बुरी तरह घायल हुआ हूँ ।

प्रताप—क्या माना गिर गये ?

माना—राणाजी, यदि मैं मर जाऊँ तो कोई चिन्ता नहीं, परन्तु आप लौट जाइए। यहाँ शत्रुओंके दलके दल आ रहे हैं। नहीं तो बड़ी कठिनता होगी।

प्रताप—माना, क्या तुम मरना जानते हो और मैं मरना नहीं जानता? आने दो शत्रुओंको।

(महावतखाँके साथ युद्ध करते करते प्रतापसिंहका पैर फिसल जाता है और वे लाशोंके ढेरपर गिर पड़ते हैं। महावतखाँ आगे बढ़कर प्रतापसिंहका सिर धड़से अलग कर देना चाहते हैं। इतनेमें बहुतसे सैनिकोंके साथ गोविन्दसिंह वहाँ आ पहुँचते हैं।)

माना—गोविन्दसिंह! राणाजीको बचाओ।

(गोविन्दसिंह महावतखाँपर आक्रमण करते हैं। दोनों ओरके सैनिक लड़ते लड़ते वहाँसे निकल जाते हैं।)

माना—राणाजी, अब हम लोगोंकी विजयकी कोई आशा नहीं है। हम लोगोंकी प्रायः सारी सेना नष्ट हो चुकी है। अब आप लौट जाइए।

प्रताप—नहीं, कभी नहीं। मैं लड़ूँगा, जबतक शरीरमें प्राण है तबतक लड़ूँगा। मैं युद्धक्षेत्रसे भागना नहीं जानता। (उठकर) लाओ, मुझे तलवार दो।

माना—नहीं राणाजी, अब आप जाइए। देखिए शत्रुओंका बहुत बड़ा दल आ रहा है।

प्रताप—आने दो। तलवार कहाँ है? (जमीनपर पड़ी हुई एक तलवार उठाकर) और मेरा घोड़ा कहाँ है? (प्रस्थान।)

माना—हाय राणाजी! आप क्या कर रहे हैं! इतने मुगलसैनिकोंको कौन रोक सकता है? अबकी राणाजीके प्राण अवश्य जायँगे। हे भगवान्! तुम्हारी क्या यही इच्छा थी!

आठवाँ दृश्य।

स्थान—शक्तसिंहका खेमा।

समय—सन्ध्या।

[शक्तसिंह अकेले खड़े हैं।]

शक्त०—भयंकर युद्ध ठना हुआ है। तोपें गरज रही हैं। उन्मत्त सैनिक चिल्ला रहे हैं। घोड़े हिनहिना रहे हैं। हाथी चिंघाड़ रहे हैं। युद्धके डंके बज रहे हैं। मरणोन्मुख सिपाही कराह रहे हैं। कैसा युद्ध ठना है! एक ओर असंख्य मुगल सैनिक और दूसरी ओर बीस हजार राजपूत। एक ओर तोपें और दूसरी ओर केवल भाले और तलवारें। प्रतापसिंहका भी कैसा विलक्षण साहस है! प्रताप! तुम धन्य हो। आज मैंने अपनी आँखोंसे तुम्हारी अद्भुत वीरता देखी है। सचमुच तुम मेरे भाई हो। आज तुम्हें देखकर मेरी आँखोंसे प्रेमके आँसू बहने लगे। आज जी चाहता है कि भक्ति और अभिमानसे झुक-कर तुम्हारे पैरोंपर सिर रख दूँ। प्रताप! प्रताप! आज प्रत्येक मुगल सेनापतिके मुँहसे तुम्हारी वीरताकी प्रशंसा निकल रही है। यह प्रशंसा सुनकर मैं मारे अभिमानके फूला नहीं समाता। मैं सोचता हूँ कि जिन प्रतापकी आज इतनी प्रशंसा हो रही है वे प्रताप राजपूत हैं और मेरे भाई हैं। आज यह सुन्दर मेवाड़-भूमि मुगल सैनिकोंने नष्ट भ्रष्ट विध्वस्त कर दी है जिसके कारण मैं अपने आपको हजार बार धिक्कारता हूँ। लज्जा और परितापसे मेरा सिर झुका जाता है। क्योंकि इन मुगल सैनिकोंको अपने इस सुन्दर राज्य और इस अनुपम देशमें मैं ही बुला लाया हूँ।

[महावतखाँका प्रवेश ।]

शक्त०—कहिए लड़ाईकी क्या खबर है ?

महावत—वाह, बहुत अच्छा सवाल है । लड़ाई हो रही है, सब लोग कट-मर रहे हैं और आप चुपचाप आरामसे अपने खेमेमें पड़े हैं ! क्या यही आपकी बहादुरी है ?

शक्त०—सुनिए साहब, आप मुझसे किसी तरहकी कैफियत नहीं तलब कर सकते । मैं अपनी खुशीसे लड़ाईमें आया हूँ, किसीका नौकर नहीं हूँ ।

महाबत—आप किसीके नौकर नहीं हैं ! तब क्या इतने दिनों तक बादशाह सलामतके दरबारमें सिर्फ एक खुशामदीकी हैसियतसे थे ?

शक्त०—आप जरा सँभल कर बातें करें ।

महाबत—क्यों ?

शक्त०—इसलिये कि इस वक्त मेरा दिमाग ठिकाने नहीं है । नहीं तो इस लड़ाईके मौकेपर मैं अपने खेमेमें न बैठा रहता ।

महावत—बस बस यह शेखी रहने दीजिए, आपकी बहादुरी देखी गई !

शक्त०—अगर आप यही समझते हैं तो फिर आइए, मेरी बहादुरीका नमूना देख लीजिए । (तलवार निकाल लेते हैं ।)

महावत—हाँ हाँ, मैं तैयार हूँ ।

(महावतखाँ भी तलवार निकाल लेते हैं । इतनेमें नेपथ्यसे किसीका शब्द सुनाई देता है ।)

नेपथ्यसे—प्रतापसिंहका पीछा करो । मुझे उसका सिर चाहिए ।

शक्त०—हैं ! क्या यह सलीमकी आवाज है ? क्या प्रतापसिंह भाग गये ? क्या उनकी जान लेनेके लिये मुगल उनका पीछा कर रहे हैं ? अच्छा साहब आप ठहरिए, मैं अभी आया । मेरा घोड़ा ? (जल्दीसे प्रस्थान ।)

महावत—इनकी भी अजब हालत है ! जरूर ये प्रतापसिंहकी जान लेनेके लिये गये हैं । खुदाकी भी कैसी कुदरत है ! प्रतापसिंह अपने भतीजेकी ही तलवारसे घायल होकर गिरे और इस वक्त उनके एक भाई ही उनकी जान लेनेके लिये जा रहे हैं ! (चिन्तित भावसे प्रस्थान ।)

नवाँ दृश्य ।

स्थान—हल्दी घाटी । एक छोटी नदीका किनारा ।

समय—सन्ध्या ।

[प्रतापसिंह एक मरे हुए घोड़ेपर सिर रखे पड़े हैं ।]

प्रताप—चलो, सब हो गया ! तीन ही दिनमें सब समाप्त हो गया ! मेरे पन्द्रह हजार सैनिक कट मरे । मेरा प्यारा घोड़ा चेटक घायल हो गया और मैं इस नदीके किनारे बुरी तरह घायल होकर पड़ा हूँ । मुझे यहाँ कौन ले आया ? मेरा पुराना साथी यही प्यारा घोड़ा । मुझे विपत्तिमें देखकर यह भागा और मेरे रोकते हुए भी, कड़ी लगामके होने पर भी, किसी प्रकारकी बाधा और विपत्तिकी परवाह न करता हुआ मुझे यहाँतक ले आया । अपने प्राण बचानेके लिये नहीं बल्कि मेरे प्राण बचानेके लिये । इसने अपने प्राण देकर मेर प्राण बचाये ! पीछेसे कोई परिचित स्वर सुनाई पड़ा था—"ओ काले घोड़ेके सवार, खड़े

रहा। " शायद वह समझा होगा कि मैं भाग रहा हूँ। चेटक, प्यारे चेटक! तुम क्यों भाग आये? युद्धक्षेत्रमें हम दोनों साथ ही मरते। देखो शत्रु हँस रहे हैं। कहते हैं कि प्रतापसिंह युद्धक्षेत्रसे भाग गया। चेटक! मरते समय तुम क्यों इस प्रकार मेरे अधिकारसे वाहर हो गये? मेरे रोकनेपर तुम क्यों न रुके? देखो इस समय मैं लज्जासे मरा जा रहा हूँ। मेरा सिर घूम रहा है।

(शस्त्र लिये हुए खुरासान और मुलतानके राजाओंका प्रवेश।)

खुरा०—देखो यह प्रतापसिंह पड़ा है।

मुल०—यह तो मर गया।

प्रताप—(उठकर) मैं मरा नहीं, अभी जीता हूँ। अभीतक लड़ाई खतम नहीं हुई। तलवार निकालो।

मुल०—हाँ हाँ।

खुरा०—जरूर, जरूर।

(प्रतापसिंह दोनोंके साथ लड़ने लगते हैं। इतनेमें नेपथ्यसे किसीका स्वर सुनाई पड़ता है।)

नेपथ्यसे—ओ काले घोड़ेके सवार, खड़े रहो।

प्रताप—और लोग भी आ रहे हैं, अब आशा नहीं है।

मुल०—बस तलवार रख दो।

प्रताप—तुमसे हो सके तो रखा लो।

(फिर युद्ध होता है और प्रतापसिंह मूर्छित होकर गिर पड़ते हैं। इतनेमें शक्तसिंह वहाँ आ पहुँचते हैं।)

शक्त०—ठहरो।

खुरा०—एक और काफिर आ पहुँचा!

मुल०—इसे भी मारो।

शक्त०—तो फिर मरो! (बड़े ही प्रचण्ड वेगसे दोनोंपर आक्रमण करके उन्हें मार गिराते हैं।)

शक्त०—बस अब कोई भय नहीं है। अब प्रतापसिंहपर कोई विपत्ति नहीं आ सकती। भैया! अरे ये तो बिल्कुल बेसुध पड़े हैं! मैं झरनेका जल लाता हूँ। (जाकर झरनेका जल ले आते हैं और प्रतापसिंहके मुँहपर डालते हैं।)

शक्त०—भैया! भैया!

प्रताप—कौन? शक्त!

शक्त०—अभीतक मेवाड़का सूर्य्य अस्त नहीं हुआ। हाँ—भैया, मैं ही हूँ।

प्रताप—शक्त! तो मैं तुम्हारे हाथ कैद हो गया! परन्तु देखो मुझे हथकड़ी बेड़ी पहनाकर मुगलोंके दरबारमें न ले जाना, पहले मुझे मार डालना और तब मेरा कटा हुआ सिर लेकर अपने स्वामी अकबरके पास जाना और उसे उपहार देना। मुझे जीवित दशामें पकड़कर न ले जाना। मेरी बड़ी इच्छा थी कि युद्धक्षेत्रमें लड़ते लड़ते प्राण दूँ। परन्तु ठीक समयपर मेरा घोड़ा चेटक लगामको न मान कर युद्धक्षेत्रसे भाग निकला। मैंने उसे बहुत रोकना चाहा पर वह नहीं रुका। मैं युद्धमें मरनेके गौरवसे वंचित रह गया हूँ। मुझे हथकड़ी-बेड़ी पहनाकर और अधिक लज्जित न करना। मुझे मार डालो। भाई शक्त! नहीं नहीं, मैं तुम्हें भाई कहकर तुम्हारे मनमें दया उत्पन्न करना नहीं चाहता। आज तुम विजयी हो और मैं विजित। तुम चक्रके ऊपर हो और मैं नीचे हूँ। तुम खड़े हो और मैं तुम्हारे पैरोंपर पड़ा हूँ। बस मैं और कुछ नहीं चाहता। केवल यही चाहता हूँ कि तुम मुझे बाँधकर न ले चलो। हाँ, मुझे मार

डालो। यदि मैंने कभी तुम्हारा कोई उपकार किया हो तो उसके बदलेमें मैं तुमसे केवल यही छोटीसी प्रार्थना करता हूँ और भिक्षा माँगता हूँ कि मेरा यह अन्तिम अनुरोध मान लो। मुझे मार डालो, परन्तु मुझे बाँधकर न ले चलो। मेरी छाती खुली है, इसी पर अपनी तलवारका वार करो।

शक्त०—(तलवार फेंककर) भैया! आप अपनी इस खुली हुई विशाल छातीमें मुझे स्थान दीजिए।

प्रताप—तो क्या शक्त, इस समय इन दोनों मुगलोंके हाथसे तुम्हींने मेरी रक्षा की है?

शक्त०—भैया, आप वीरोंके आदर्श हैं, स्वदेशके रक्षक हैं और राजपूतकुलके गौरव हैं। मैं आपको इन हत्यारोंके हाथसे क्यों कर मरने देता! मैंने इतने दिनोंतक आपका महत्त्व नहीं समझा था। एक दिन मैंने सोचा था कि मैं आपसे श्रेष्ठ हूँ। आपको स्मरण होगा कि इसी बातकी परीक्षाके लिये मैंने उस दिन आपसे द्वन्द्व युद्ध किया था। परन्तु आज इस युद्धमें मैंने समझ लिया कि आप ही श्रेष्ठ हैं, मैं क्षुद्र हूँ। आप वीर हैं और मैं कायर हूँ। मैंने नीचतापूर्वक बदला चुकानेके लिये अपनी जन्मभूमिका सर्वनाश कर डाला! परन्तु ऐसी अवस्थामें जब कि मैं आपकी रक्षा कर सका हूँ फिर भी मेवाड़की रक्षाकी बहुत कुछ आशा है। आप राजपूत कुलके प्रदीप हैं, वीर-केसरी हैं, पुरुषोत्तम हैं। आप मुझे क्षमा करें।

प्रताप—भाई! भाई!

(दोनों एक दूसरेको गलेसे लगा लेते हैं।)

तीसरा अंक।

पहला दृश्य।

स्थान—सलीमका कमरा।

समय—तीसरा पहर।

[शस्त्र लिये हुए क्रोधमें भरा सलीम बैठा है। सामने शक्त-
सिंह खड़े हैं। सलीमके पास ही आमेर, मारवाड़
और चँदेरीके राजा तथा पृथ्वीराज खड़े हुए
शक्तसिंहकी ओर देख रहे हैं।]

सलीम—शक्तसिंह सच बतलाओ। प्रतापसिंहको इस तरह साफ बचकर भाग जाने देनेके लिये कौन जिम्मेदार है?

शक्त०—शाहजादा साहब, आपने बहुत ठीक सवाल किया। प्रतापसिंह लड़ाईके मैदानमेंसे खुद अपनी खुशीसे नहीं भागे थे! और अपनी इस बदनामीके लिये वे खुद जिम्मेदार भी नहीं हैं।

आमेर—साफ साफ बतलाओ। उनके भागनेके लिये कौन जिम्मेदार है?

शक्त०—उनका घोड़ा चेटक।

पृथ्वी०—(खाँसते हैं।)

सलीम—तुमने उनके भागनेमें किसी तरहकी मदद दी थी या नहीं?

शक्त०—नहीं, मैंने कोई मदद नहीं दी थी।

बीकानेर—तो फिर खुरासानी और मुलतानी क्योंकर मरे?

शक्त०—तलवारके घावसे।

पृथ्वी०—(हँसी रोकनेके मतलबसे फिर खाँसते हैं)

आमेर—शक्तसिंह, तुम यहाँ हँसी-मजाक करनेके लिये नहीं बुलाये गये हो। यह अदालत है।

शक्त०—ऐसा क्या! यह अदालत है! महाराज, मैंने तो सोचा था कि यह सुसराल है! मैं दूल्हा, सलीम दुलहिन और आप सब सालियाँ हैं!

पृथ्वी०—(कोशिश करनेपर भी हँसी नहीं रुकती है।)

सलीम—शक्त, साफ और सीधा जवाब दो।

शक्त०—शाहजादा साहब, मुझसे जो कुछ पूछना हो वह आप खुद पूछें। मैं साफ साफ जवाब दूँगा। इन खुशामदी दरबारियोंकी बातें सुनकर मेरा खून उबलने लगता है।

सलीम—अच्छी बात है, मैं ही पूछता हूँ। बतलाओ, शाही फौजके सिपहसालार खुरासानी और मुलतानीको किसने मारा?

शक्त०—मैंने।

चँदेरी—यह तो मैंने पहले ही समझ लिया था।

शक्त०—क्यों नहीं, आप बहुत बड़े समझदार हैं न!

पृथ्वी०—(मारवाड़पतिकी ओर देखते हैं।)

सलीम—तुमने उन लोगोंको क्यों मारा?

शक्त०—मेरे भाई प्रताप घायल होकर बेहोश पड़े हुए थे और उस हालतमें वे दोनों उनकी जान लेना चाहते थे। अपने भाईको बचानेके लिये मैंने उन दोनोंको मार डाला।

आमेर—तो तुम्हींने यह काम किया है? तुम बड़े अहसान-फरामोश, दगाबाज और नामर्द हो।

शक्त०—राजा साहव ! देखता हूँ कि माताकी अपेक्षा मौसीकी तरफ कुछ ज्यादा खिंचाव है ! (पृथ्वीराज फिर खाँसते हैं ।) भगवान-दास ! मैं दगावाज हो सकता हूँ, अहसानफरामोश हो सकता हूँ; परन्तु नामर्द नहीं हूँ । जब दो पठान मिलकर एक घायल बेहोश बहादुरकी जान लेना चाहते थे तब मैंने अकेले उन दोनोंसे लड़कर उन्हें मारा है । हत्या नहीं की है ।

सलीम—तो भी तुम यह तो मंजूर करते हो कि तुमने विश्वास-घातका काम किया ?

शक्त०—बेशक । लेकिन शाहजादा साहब, इसमें ताज्जुबकी बात क्या है ! विश्वासघातक तो मैं पुराना हूँ । अगर मैंने इस मौकेपर फिर विश्वा-सघात किया तो यह कोई बड़ी बात नहीं है । मैंने इससे पहले मुग-लोंके साथ मिलकर अपने देश, अपने धर्म्म, और अपने भाईके साथ तो विश्वासघात किया ही था । अब उसके बाद समझ लीजिए कि एक और विश्वासघात कर डाला ! इसमें बड़ी बात क्या हो गई ! क्या बादशाह सलामतने मुझको विश्वासघातक समझकर ही अपने यहाँ जगह नहीं दी थी ? मैं प्रतापको अन्याय युद्धमें मार डालनेके लिये विश्वासघातक बनाया गया था, सो विश्वासघात तो मैंने किया ही; सिर्फ इतना अन्तर हो गया कि प्रतापको मारनेके बजाय मैंने उन्हें अन्याय हत्यासे बचा लिया !—और वह प्रताप भी कौन, जो मेरा अपना भाई था। और भाई भी ऐसा वैसा नहीं वल्कि बिना हथियारके अपनेसे चौगुनी फौजके साथ लड़नेवाला, अपने देशके लिये जंगलों और पहाड़ोंमें रोता हुआ टक्करें मारनेवाला और हमारी जाति और देशका सबसे बड़ा सहारा ।

पृथ्वी०—(इस तरह गर्दन हिलाते हैं कि प्रतापसिंहकी सब चेष्टाएँ व्यर्थ हैं ।

मारवाड़—(धीरे धीरे चँदेरीपतिके कानमें कुछ कहते हैं ।)

आमेर—वही प्रतापसिंह न जो पहाड़ी डाकू और बलवाई है ?

शक्त०—प्रतापसिंह तो बलवा करनेवाले हैं और आप अपने मुल्कके बहुत बड़े खैरख्वाह हैं ! क्यों न हो !

सलीम—तो क्या तुम्हारा यह मतलब है कि प्रताप बलवाई नहीं है ?

शक्त०—प्रतापसिंह तो बलवाई हैं और बादशाह अकबर चित्तौरके असल मालिक हैं ? मगर नहीं, राजनीतिमें या मुल्की कामोंमें कुछ खास बातोंका अलग अलग मतलब हुआ करता है । किसीके मुल्कपर डाका डालने मारनेको हमला करना कहते हैं; जबरदस्ती किसीका मुल्क छीन लेनेको फतह करना कहते हैं; लुटे हुए मुल्कमें मजेसे राज करनेको अमन-चैन कहते हैं; जिनका सब कुछ छीन लिया जाता है, वे लोग लाचारीसे जो नीच गुलामी करते हैं उसे राजभक्ति कहते हैं; और जो शख्स अपनी गई हुई चीज वापस लेनेकी कोशिश करता है वह बलवा करनेवाला माना जाता है । राजनीतिका शब्दकोश भी कैसा अजीब है ! जितने बुरेसे बुरे, निकम्मेसे निकम्मे, घृणित और नीच काम हैं वे तो इन मुल्की मामलोंमें अच्छे समझे जाते हैं और जो अच्छे या ऊँचे दरजेके काम हैं वे बुरे माने जाते हैं।

पृथ्वी०—(सिर हिलाकर यह प्रकट करते हैं कि शक्तसिंहकी ये बातें ठीक नहीं हैं ।)

सलीम—तो तुम बादशाह सलामतको क्या कहना चाहते हो ?

शक्त०—मैं उन्हें हिन्दुस्तानका सबसे बड़ा डाकू समझता हूँ। फर्क इतना ही है कि डाकू सिर्फ रुपया पैसा लूटते हैं और बादशाह अकबर रियासतें लूटते हैं ।

पृथ्वी०—(बड़े आश्चर्यसे मुँह फाड़ देते हैं ।)

सलीम—हूँ ! अच्छा, इन्हें गिरिफ्तार कर लिया जाय ।

(कई सिपाही आगे बढ़कर शक्तसिंहको गिरिफ्तार कर लेते हैं ।)

सलीम—शक्तसिंह, तुम जानते हो कि तुम्हारी सजा क्या है ?

शक्त०—ज्यादासे ज्यादा मौत ! इससे ज्यादा तो और कुछ हो ही नहीं सकता । मगर मैं क्षत्री हूँ; मरनेसे नहीं डरता । अगर मैं मरनेसे डरता तो झूठ बोलता, सच कभी न बोलता । अगर मुझे किसी तरहका डर होता तो मैं खुद अपनी मरजीसे लौटकर मुगलोंकी छावनीमें कभी न आता । जब मैं सच बात कहनेके लिये लौटकर यहाँ आया था तब मैंने कुछ यह नहीं सोचा था कि मेरे सच कहनेपर मुगल मुझे माफ कर देंगे । बहुत दिनोंसे मेरा मुगलोंका साथ रहा है । मैंने उन्हें बहुत अच्छी तरह पहचान लिया है । यहाँतक कि खुद बादशाह अकबर तकको पहचान लिया है । वे बड़े ही चालाक, अविवेकी, और कपटी राजनीतिज्ञ हैं । और आप ?—आप एक नासमझ, मूर्ख, विद्वेषी और खूनके प्यासे पिशाच हैं !

पृथ्वी०—(बहुत करुणाभरी दृष्टिसे शक्तसिंहकी ओर देखते हैं ।)

सलीम—तुम खुद घरसे निकाले हुए और मुगलोंका जूठा खानेवाले नमकहराम कुत्ते हो !—फिर भी आँखें लाल करते हो ! दगाबाजीकी सजा मौत है, मगर उसके पहले यह ठोकर खाते जाओ !—(पदाघात) इसे कैदखानेमें ले जाओ ! कल यह शिकारी कुत्तोंके सामने डाला जायगा । (प्रस्थान ।)

शक्त०—मुझे एक बार एक घड़ी भरके लिए कोई खोल दो ! फिर जो चाहे सो सजा दे देना । मगर एक बार खोल दो ।

पृथ्वी०—(फिर करुणाभरी दृष्टिसे शक्तसिंहकी ओर देखते हैं।)

(शक्तसिंह अपने आपको छुड़ाना चाहते हैं। पर सिपाही उन्हें पकड़कर ले जाते हैं।)

दूसरा दृश्य।

स्थान—दौलतुन्निसाका कमरा।

समय—तीसरा पहर।

[मेहर और दौलत दोनों खड़ी हैं। मेहर टहलती हुई गाती है।]

गीत।

जानती जो मैं विषमय प्रेम।
कभी न पान उसे मैं करती ऐसा धरती नेम॥
छन भरमें छिप जात प्रेम-सुख चिर यातना भुगाता।
प्रेम कुसुम छूनेसे सूखे, बस कंटक गड़ जाता॥

दौलत—(मेहरको धक्का देकर) आखिर क्या हुआ? कहो तो सही।

मेहर—मुहब्बतका मजा भी क्या खूब होता है!

दौलत—क्या कहा?

मेहर—मुहब्बतका मजा क्या खूब होता है!—'छन भरमें छिप जात प्रेम-सुख,'—

दौलत—उसमें क्या खूबी होती है?

मेहर—बड़ी भारी खूबी होती है—'चिर यातना भुगाता।'

दौलत—जाओ, मैं नहीं सुनती!

मेहर—अरे जरा तो सुन लो!—

दौलत—नहीं मैं नहीं सुनना चाहती ।

मेहर—अच्छा तो मत सुनो !—हाँ, तो फिर शक्तसिंह क्या करेंगे !

(मेहर उत्सुकतासे मेहरकी ओर देखती है ।)

मेहर—वे वेचारे गये तो अपने भाईकी जान बचाने और उलटे अपनी ही जान गँवा वैठे !

दौलत—मेहर !—

मेहर—लेकिन सलीमने वहुत ही मुनासिव किया । ऐसे शख्सको यही सजा मिलनी चाहिए थी । इसमें सलीमका कोई कुसूर नहीं ।

दौलत—मेहर, तुम ये कैसी बातें कर रही हो !

मेहर—मैं क्या करूँ ! मैं तो सव काम ठीक कर चुकी थी, मगर सलीमने वना वनाया खेल विगाड़ दिया ।

दौलत—तो क्या सलीमने शक्तसिंहको मरवा डालनेका हुक्म दे दिया है ?

मेहर—हाँ, मेरी समझमें तो उनके हुक्मका यही मतलव निकलता है ।

दौलत—नहीं, तुम मजाक करती हो ।

मेहर—अच्छी वात है, मजाक ही सही । मगर शायद शक्तसिंहके लिये तो यह बात मजाक नहीं है । लाख वहादुर हों मगर फिर भी तो उन्हें जान प्यारी होगी ।

दौलत—मगर आखिर सलीमने ऐसा हुक्म क्यों दिया ?

मेहर—उन्होंने अच्छी तरह यह समझ लिया कि खुदाने शक्तसिंहको वनानेमें कुछ गलती की थी ।

दौलत—गलती कैसी ?

मेहर—उनके हाथ पैर वगैरह तो सब ठीक बने थे मगर सलीमने देखा कि उनकी गरदनपर सिर ठीक तरहसे नहीं बैठा है। इसीलिये उन्होंने इस गलतीको दूर करनेके इरादेसे उस सिरको उड़ा देनेका हुक्म दे दिया है। बस। मगर ताज्जुब इस बातका है कि शक्तसिंहने इसके खिलाफ कुछ भी नहीं कहा।

दौलत—किसके खिलाफ ?

मेहर—किसके खिलाफ! यही कि सिर चाहे ठीक बैठा हो या न बैठा हो, मगर उन्हें वह पैदाइशके वक्त खुदाकी तरफसे मिला है। इसलिये उन्हें इसके खिलाफ कुछ कहना चाहिए था। क्योंकि खुदाके काममें और किसीको बोलनेकी जगह ही नहीं है। देखो, अगर कोई शख्स आकर मेरा सिर धड़से अलग कर दे तो कैसा हो ? मैं खड़ी रहूँ और मेरा सिर गिरकर पैरोंके पास धूलमें लोटने लगे तो फिर उस हालतमें क्या हो ? तुम चुप क्यों हो, बोलती क्यों नहीं ? तुम्हारे चेहरेका रंग क्यों उड़ गया ?

दौलत—बहन, इस वक्त तो अगर तुम्हीं चाहो तो उन्हें बचा सकती हो। यह तुम समझ लो कि अगर उनकी जान चली गई तो मैं फिर एक दिन भी जिन्दा न रह सकूँगी। मैं कसम खाकर कहती हूँ कि अगर उनकी जान ले ली गई तो मैं भी जहर खाकर अपनी जान दे दूँगी।

मेहर—अगर तुम जान दे दोगी तो दे देना! इसका इतना घमण्ड क्यों ? तुमसे पहले बहुतसे लोगोंने मुहब्बतमें अपनी जान दे दी है। मैंने किस्से कहानियोंमें ऐसी सैकड़ों बातें पढ़ी हैं। मैं तो यह समझती हूँ कि अपनी जान दे देनेमें ऐसी कोई बड़ी बहादुरी नहीं है कि उसकी डुगडुगी पीटी जाय और फिर अभी तो तुमने जान दी भी

नहीं है! मैं मानती हूँ कि तुम अपनी जान जरूर दे दोगी, क्योंकि ऐसा बहुतसे लोगोंने किया है।

दौलत—तो क्या उनकी जान बचानेकी कोई तरकीब नहीं है?

मेहर—(बहुत गम्भीरतासे सिर हिलाकर) बस उसकी तरकीब यही है कि खुद अपनी जान दे दी जाय! और यह तरकीब तो तुम करोगी ही। इसके सिवा और कोई तरकीब नहीं है। मगर देखो, एक बात है। अगर तुम अपनी जान देने ही लगो तो ऐसी तरकीबसे देना जिसमें कुछ दिनोंतक तुम्हारा नाम रहे।

दौलत—वह किस तरह?

मेहर—तुम अपने बढ़िया सजे हुए कमरेमें मखमलकी गद्दीपर बैठ जाना, सामने एक बढ़िया तिपाई रख लेना और उसपर कोई उम्दा जरीका कपड़ा बिछाकर ऊपर एक जड़ाऊ प्याला रख लेना। उसी प्यालेमें जहर हो। समझ लिया न? उस प्यालेको इस गोरे गोरे हाथमें लेकर कोई उम्दा गजल या शेर पढ़ना और तब उसे होंठोंसे लगा लेना। उसे इस तरह होंठोंसे लगाना जिसमें ठोढ़ी ऊपर न उठानी पड़े। इसके बाद हाथमें एक बीन लेकर शक्तसिंहका खयाल करके मध्यमान तालमें सिन्धु खम्माच रागिनीका एक गीत गाना। और तब उसी हालतमें बैठी बैठी मर जाना। देखो, ऐसा न हो कि हाथपैर इधर उधर हिल जायँ। अगर तुम इस तरह अपनी जान दोगी तो दुनियामें कुछ दिनोंतक तुम्हारा नाम रह जायगा। तसवीरें खींची जायँगी और आगेके लोगोंके वास्ते नाटक लिखनेका मसाला तैयार हो जायगा।

दौलत—क्यों बहन, क्या तुम्हें हँसी मजाक करनेके लिये यही वक्त रह गया है?

मेहर—भला मजाक करनेका इससे अच्छा और कौनसा मौका मिलेगा! तुम दोनोंका सिर्फ एक बार सामना हुआ। वह भी न तो किसी कुञ्जमें, न जमना किनारे और न चाँदनी रातमें वासफोरसकी किसी नावपर; सामना हुआ लड़ाईके मैदानमें एक मामूली खेमेमें और यह भी नहीं कि और कोई उस मौके पर मौजूद न हो। एक और शख्स मौजूद था और वह भी वही जिसने तुम दोनोंकी मुलाकात कराई। बस सिर्फ एक बार आँखें चार हुईं और मुहब्बत हो गई। अब बगैर उन्हें देखे तुम्हारी जान निकलती है, बस्ती उजाड़ मालूम होती है और दूसरे ही दिन जहर खाकर जान देनेकी नौबत आती है! भला इस मौके पर भी कोई मजाक न करे तो और कब करे!

दौलत—क्यों बहन, क्या सचमुच इसकी कोई तरकीब नहीं है? क्या तुम इस मामलेमें कुछ भी नहीं कर सकतीं? अगर तुम सलीमके पास जाकर उन्हें माफी दिलवाना चाहो तो क्या न मिले?

मेहर—अगर तुम एक काम करो तो यह सब कुछ हो सकता है।

दौलत—तुम जो कहोगी मैं वही करूँगी। दुनियामें आदमी जो कुछ कर सकता है वह सब मैं इसके लिये करूँगी।

मेहर—तुम इस तरह चुपचाप पड़ जाओ कि देखनेवाले तुम्हें बहुत सख्त बीमार समझें और यह खयाल करें कि यह अब मरी और अब मरी! बस हकीम और बैद आने लगेंगे और तुम्हें कोई आराम न कर सकेगा। मैं सलीमसे कहूँगी कि इसका इलाज-विलाज करनेसे कुछ भी न हो सकेगा, इस बीमारीके दूर करनेका एक मंतर है जो सिर्फ शक्तसिंहको मालूम है। उन्हें बुला लाओ। बस, फिर शक्तसिंह बुलाये जायँगे, वे आकर मंतर पढ़कर तुम्हें आराम कर देंगे, उनके साथ

तुम्हारी शादी हो जायगी, मजेके रंग राग और जलसे होने लगेंगे और उसके बाद—खेल खतम !

दौलत—बहन, चाहे मैंने कोई गलती की हो, चाहे बेवकूफी की हो और चाहे कोई नामुनासिब काम किया हो मगर फिर भी मैं तुम्हारी बहन हूँ। (रोने लगती है ।)

मेहर—हैं ! क्या तुम सचमुच रोने लग गईं ? नहीं नहीं, तुम रोओ मत । चुप रहो । देखो इधर मेरी तरफ देखो । छिः रोओ मत। डरनेकी कोई बात नहीं है । मैं शक्तसिंहको बचा लूँगी । अगर मैं उनको बचा न सकती तो क्या ऐसे मौकेपर मजाक कर सकती थी ? बहन, इसमें तुम्हारा कोई कुसूर नहीं है। सब कुसूर मेरा ही है। मैंने ही तुम दोनोंकी मुलाकात कराई थी और मैंने ही तुम्हारी मुहब्बतको चुपचाप दिल ही दिलमें बढ़ाकर उसको इस हालत तक पहुँचाया है। मैं शक्तसिंहको सिर्फ बचाऊँगी ही नहीं बल्कि उनके साथ तुम्हारी शादी भी करा दूँगी । तुम जानती हो, मैं जिस काममें हाथ डालती हूँ उसे कभी बिना पूरा किये नहीं छोड़ती । मैं खुदाकी कसम खाकर कहती हूँ कि तुम्हारे शक्तको जरूर बचाऊँगी। जाओ, मुहँ धो आओ । तुमने तो रो रोकर दम भरमें ही आँखें सुजा लीं । छिः, जाओ मुहँ धो डालो । (दौलतका प्रस्थान ।)

मेहर—(गद्गद स्वरसे) दौलत ! तुम नहीं जानतीं कि मेरे इस मजाकके नीचे कैसी आग दबी है । शक्त ! मैं जितना ही तुम्हें अपने दिलसे दूर करना चाहती हूँ, तुम उसमें उतना ही ज्यादा घर करते जाते हो । मैं हजार दबाती हूँ, हजार हँसी मजाक करती हूँ, मगर यह आग नहीं बुझती । मैं पहले सिर्फ तुम्हारी शक्ल और लियाकत पर आशिक हुई थी मगर आज मैं तुम्हारी बहादुरी और शराफतपर

आशिक हुई हूँ। यह आग बराबर बढ़ती ही जा रही है। नहीं नहीं, मैं इस आगको दबाऊँगी। अपने सुखके लिये नहीं, बल्कि इस नादान और भोली भाली लड़की दौलतुन्निसाके सुखके लिये। या खुदा! कहीं मेरे दिलकी यह छिपी हुई हालत उसपर जाहिर न हो जाय, नहीं तो उसे रंज होगा—बेहद रंज होगा।

[सलीमका चुपचाप कमरेमें प्रवेश।]

सलीम—मेहर!

मेहर—कौन? सलीम?

सलीम—तुम अकेली क्यों हो? दौलत कहाँ है?

मेहर—अन्दर गई है, अभी आती है। क्यों सलीम, क्या तुमने शक्तसिंहको मार डालनेका हुक्म दिया है?

सलीम—हाँ।

मेहर—यह सजा उन्हें कब मिलेगी?

सलीम—कल सबेरे शिकारी कुत्ते उसे खतम कर देंगे।

मेहर—सलीम, तुम अभी लड़के तो जरूर हो मगर फिर भी तुम्हारी यह उम्र औरोंकी जान लेनेका खेल खेलनेके लिये नहीं है।

सलीम—वाह! यह खेल है? मैंने अदालतमें यह फैसला किया।

मेहर—फैसला! इस फैसलेके नामपर दुनियामें अबतक हजारों लाखों आदमियोंकी जानें ली जा चुकी हैं। भला तुम यह तो सोचो कि तुम फैसला करनेवाले कौन?

सलीम—मैं शाहजादा हूँ। मुझे फैसला करनेका अख्तियार है।

मेहर—तो फिर मैं भी शाहजादी हूँ, मुझे भी फैसला करनेका अख्तियार है।

सलीम—आखिर तुम्हारा मतलब क्या है?

मेहर—मेरा मतलब यह है कि तुम शक्तसिंहको छोड़ दो ।

सलीम—तुम्हारे कहनेसे ?

मेहर—हाँ, मेरे कहनेसे ।

(सलीम खिलखिलाकर हँस पड़ता है ।)

मेहर—सलीम, यह हँसनेकी बात नहीं है । तुम और जो चाहो वह करो, मगर शक्तसिंहको छोड़ दो । नहीं तो—

सलीम—नहीं तो क्या ?

मेहर—नहीं तो मैं खुद जाकर अपने हाथसे उन्हें छोड़ दूँगी । इस आगरेमें कोई ऐसा नहीं है जो मुझे रोक सके । सभी लोग शाहजादी मेहरुन्निसाको जानते हैं ।

सलीम—मैं देखता हूँ कि अब्बाजानने ज्यादा लाड़ प्यार करके तुम्हारा हौसला बहुत बढ़ा दिया है ।

मेहर—इन सब बातोंकी जरूरत नहीं । तुम यह बतलाओ कि शक्तसिंहको छोड़ोगे या नहीं ?

सलीम—क्या तुम नहीं जानतीं कि शक्तसिंहने हमारे दो बहादुर सिपहसालरोंका खून कर दिया है ?

मेहर—खून नहीं किया है । सामनेसे लड़कर मारा है ।

सलीम—सामनेसे लड़कर मारा है ? नहीं, उसने बहुत बड़ी बेईमानीका काम किया है । पहले वह हम लोगोंसे मिला हुआ था और—

मेहर—सलीम, अगर इसीको बेईमानी कहते हो तो यह बेईमानी खुदाको भी पसन्द है । अगर शक्तसिंह अपने भाईको आफतसे न न बचाते और उन्हें मार डालते तो क्या तुम उनकी तारीफ करते ?

सलीम—बेशक ।

मेहर—मगर मैं उस हालतमें उनसे नफ़रत करती। सलीम, क्या तुम बतला सकते हो कि इस दुनियामें मालिक और नौकरका रिश्ता बड़ा है या भाई भाईका? उस पाक परवरदिगारने जब आदमियोंको इस दुनियामें भेजा था तब उसने न तो किसीको मालिक बनाकर भेजा था और न किसीको नौकर बनाकर। हाँ, भाई भाईका रिश्ता शुरूसे ही कायम कर दिया था और वह रिश्ता इस जिन्दगी-में नहीं छूट सकता। जब शक्तसिंह अपने भाईसे लड़कर उनसे बदला चुकानेके लिये तुम्हारी खिदमतमें आये थे तभी तुम्हें समझ लेना चाहिए था कि ये बादल ज्यादा देरतक न ठहरेंगे। तभी तुम्हें समझ लेना चाहिए था कि यह लड़ाई भाईभाईकी मुहब्बतकी ही दूसरी शक्ल थी। भाई भाईकी मुहब्बतने ही कुछ देरके लिये इस झगड़ेका भेस बना लिया था। यह भेस देखनेमें भद्दा, विकट, बदशक्ल भले ही हो, मगर था यह असलमें छुपी हुई मुहब्बतका ही दूसरा भेस। सलीम, याद रखो, सिर्फ बदला चुकानेकी ख्वाहिश ही दिली मुहब्बत नहीं तोड़ सकती। हमेशा धीमे धीमे बहनेवाली हवा जब आँधी बनती है तो थोड़ी ही देरके लिये, वह हमेशा आँधी नहीं रह सकती।

सलीम—वाहवा, क्यों न हो! आज तो तुमने शक्तसिंहकी खासी वकालत की। मगर मैं तुमसे बहस करना नहीं चाहता। अगर तुम शक्तसिंहकी तरफसे लड़ो तो यह कोई ताज्जुबकी बात नहीं है। क्योंकि तुम उससे मुहब्बत करती हो।

मेहर—झूठ, बिलकुल झूठ।

सलीम—नहीं, बिलकुल सच। क्या तुमने एक बार उसके खेमेमें जाकर उससे मुलाकात नहीं की थी?

मेहर—मुझसे ऐसा सवाल करनेका तुम्हें कोई हक नहीं है।

सलीम—अच्छी बात है, बादशाह सलामत खुद यह सवाल कर लेंगे ।

मेहर—तुम यह बतलाओ कि शक्तसिंहको छोड़ोगे या नहीं ?

सलीम—हरगिज नहीं, तुम जो चाहो वह करो ।

(सलीम जल्दीसे निकल जाता है । मेहर कुछ देरतक चुपचाप खड़ी सोचती रहती है ।)

मेहर—(हँसकर) तो क्या खुद मुझको ही यह काम करना पड़ेगा ? शायद सलीमका यह खयाल है कि मैं यह काम न कर सकूँगी । खैर, मैं दिखला दूँगी कि मुझसे यह काम हो सकता है या नहीं । (प्रस्थान ।)

तीसरा दृश्य

स्थान—कारागार ।

समय—प्रभात ।

[हथकड़ी-बेड़ीमें बँधे हुए शक्तसिंह बैठे हैं ।]

शक्त०—रात बीत चली । साथ ही साथ मेरी क्षुद्र आयु भी बीत चली । आजका प्रभात मेरे जीवनका अन्तिम प्रभात है । आज मेरा यह हृष्टपुष्ट और गोरा शरीर लहूमें भरकर जमीनमें लोटने लगेगा । सब लोग मेरा वह अन्तिम भीषण दृश्य देखेंगे परन्तु एक मैं ही न देख सकूँगा । मैं ! आखिर यह ' मैं ' कौन हूँ, कहाँसे आया हूँ और आज कहाँ जा रहा हूँ ! बहुत कुछ सोचने पर भी मैं कुछ निश्चय नहीं कर सकता । न तो गणित करनेसे कुछ फल निकलता है और न दर्शन-शास्त्रोंसे ही इसकी मीमांसा होती है । मैं कौन हूँ ! आजसे ४०

वर्ष पहले मैं कहाँ था ! कल मैं कहाँ रहूँगा ! आज इस प्रश्नकी मीमांसा हो जायगी।—कौन ?

[हाथमें बत्ती लिये हुए मेहरुन्निसाका प्रवेश।]

मेहर—मैं हूँ मेहरुन्निसा।

शक्त०—शाहजादी मेहरुन्निसा !

मेहर—हाँ।

शक्त०—आपने यहाँतक आनेकी तकलीफ क्यों की ?

मेहर—मैं आपकी जान बचानेके लिये आई हूँ।

शक्त०—मेरी जान बचानेके लिये ? क्यों मुझे तो जीनेकी कोई तमन्ना नहीं है !

मेहर—(आश्चर्यपूर्वक) हैं ! आपको जीनेकी तमन्ना नहीं है ? क्या आपको ऐसी उम्दा दुनिया छोड़नेका कुछ भी रंज नहीं है ?

शक्त०—नहीं, बिलकुल नहीं। मेरे लिये तो यह दुनिया बहुत ही पुरानी हो गई है। रोज सवेरे वही एक सूरज निकलता है और रातको वही एक चाँद दिखलाई देता है। कभी कभी अँधेरा भी रहता है। हमेशा वही पेड़, वही जानवर, वही पहाड़, वही नदियाँ और वही आसमान। मेरे लिये तो यह दुनियाँ बहुत ही पुरानी हो गई है। मरनेके बाद उस दुनियामें चलकर देखूँ, शायद वहाँ कोई नई चीज मिल जाय।

मेहर—क्या आपको अपनी जिन्दगीसे कोई मुहब्बत नहीं है ?

शक्त०—बिलकुल नहीं। मैंने इतने दिनोंतक इस जिन्दगीका ऊँच नीच देखा मगर मुझे यह बिलकुल फजूल माळूम हुई। मुझे इसमें कुछ भी मजा न आया। अब तो मैं यही देखना चाहता हूँ कि मौत

कैसी होती है । उसकी करतूतें तो रोज ही देखता हूँ, मगर उसके बारेमें जानता कुछ भी नहीं हूँ । आज जान लूँगा ।

मेहर—जिन लोगोंसे आपकी मुहब्बत है क्या उन्हें छोड़नेमें आपको कोई तकलीफ नहीं होती ?

शक्त०—दुनियामें कोई ऐसा नहीं है जिससे मेरी मुहब्बत होती। अगर कोई ऐसा होता तो शायद मुझे तकलीफ होती । मैं आजतक किसीसे मुहब्बत करना सीखा ही नहीं और न कभी किसीने मुझसे मुहब्बत की । मैं किसीका भी कर्जदार नहीं हूँ—सबका कर्ज अदाकर चुका हूँ। (स्वगत) मगर फिर भी एक कर्ज रह ही गया । सलीमने मेरी जो बेइज्जती की उसका बदला मैं नहीं चुका सका । बस यही एक काम बाकी रह गया ।

मेहर—तो क्या आप इस सजासे बचना नहीं चाहते ?

शक्त०—(एकाएक आग्रहपूर्वक) हाँ शाहजादी साहब, जरूर चाहता हूँ। मैं थोड़ी देरके लिये आजाद होना चाहता हूँ। अपना बदला चुका देनेके बाद मैं फिर आकर अपने आपको गिरिफ्तार करा दूँगा । अगर आपसे हो सके तो थोड़ी देरके लिये मुझे इस कैदखानेसे निकाल दीजिए।

मेहर—पहरेदार !

[पहरेदार आकर अभिवादन करता है ।]

मेहर—इनकी हथकड़ी बेड़ी खोल दो ।

(पहरेदार हथकड़ी बेड़ी खोल देता है । मेहर अपने गलेका जड़ाऊ हार उतारकर उसे देती है ।)

मेहर—जाओ, तुम इस हारको बेच डालो । यह कमसे कम एक लाख रुपयेका होगा । इससे अब तुम्हें आगेके लिये कोई फिक्र न करनी होगी । जाओ। (पहरेदारका अभिवादन करके प्रस्थान ।)

शक्त०—(कुछ देरतक चकित रहनेके उपरान्त) मैं आपसे एक बात पूछना चाहता हूँ। आखिर आपने मुझे छुड़ानेके लिये इतनी कोशिश क्यों की?

मेहर—आप यह क्यों पूछते हैं?

शक्त०—यों ही।

मेहर—(स्वगत) अगर इस वक्त मैं मतलबकी बात कह दूँ तो हर्ज ही क्या है? बस अभी फैसला हो जायगा। (शक्तसे) अच्छा तो सुनिए। आपको मेरी बहन दौलतुन्निसाका तो खयाल होगा ही?

शक्त०—हाँ हाँ, जरूर।

मेहर—वह—वह आपसे मुहब्बत करती है।

शक्त०—मुझसे?

मेहर—हाँ, आपसे। और अगर मैं गलती नहीं करती तो कह सकती हूँ कि आप भी उससे मुहब्बत करते हैं।

शक्त०—मैं?

मेहर—हाँ, आप।

शक्त०—लेकिन मेरे छूट जानेसे उनको क्या फायदा होगा?

मेहर—यह बात तो वही जाने। देखिए रात बीत गई और सवेरा होना चाहता है। अब आप बिलकुल आजाद हैं। बाहर घोड़ा तैयार है। जहाँ जी चाहे आप जायँ, कोई आपको रोक न सकेगा। और अगर आप दौलतुन्निसासे शादी करना चाहें—

शक्त०—शादी! हिन्दू होकर एक मुसलमान औरतके साथ शादी? यह बात क्योंकर और किस शास्त्रके अनुसार हो सकती है?

मेहर—खुद आपके हिन्दूशास्त्रके मुताबिक। क्या आपके बड़ोंमेंसे बाप्पा रावलने मुसलमान औरतके साथ शादी नहीं की थी?

शक्त०—वह तो राक्षस-विवाह था ।

मेहर—हुआ करे, इससे क्या ? व्याह तो था न ? और फिर आप ही बतलाइए कि शास्त्र किसके बनाये हुए हैं ? शादीका शास्त्र सिर्फ एक है और वह मुहब्बत या प्रेम है । जो बंधन मुहब्बतसे मजबूत होता है उसे दुनियाका कोई शास्त्र नहीं तोड़ सकता । जिस वक्त नदियाँ समुन्दरसे मिलने लगती हैं, आसमानसे तारे टूटकर इस दुनियाकी तरफ बढ़ने लगते हैं, लताएँ पेड़ोंसे लिपटने लगती हैं, उस वक्त क्या उन्हें किसी पुरोहित या काजी वगैरहकी जरूरत होती है ?

शक्त०—शाहजादी साहब, मुझे शास्त्रोंका डर नहीं है। जो जात-पाँतको कुछ भी न मानता हो उसके लिये शास्त्रोंकी क्या कीमत हो सकती है ?

मेहर—तो क्या आपको मंजूर है ?

शक्त०—(स्वगत) इसमें हानि ही क्या है ? एक अच्छी दिल्लगी होगी । आजतक मैंने स्त्रियोंके चरित्रकी परीक्षा नहीं की है। क्या हर्ज है, वह भी कर ली जाय ।

मेहर—कहिए मंजूर है ?

शक्त०—हाँ, मंजूर है ।

मेहर—कहिए, परमेश्वर गवाह है ।

शक्त०—मैं परमेश्वरको नहीं मानता ।

मेहर—आप मानें या न मानें मगर कहिए परमेश्वर गवाह है।

शक्त०—परमेश्वर साक्षी है ।

मेहर—देखिए, मैं अपने गलेका यह कीमती हार उतार कर आपके गलेमें पहना रही हूँ । ऐसा न हो कि इसकी बेइज्जती हो । ईश्वर गवाह है ।

शक्त०—ईश्वर साक्षी है।

मेहर—आइए।

शक्त०—चलिए। (कुछ दूर चलकर धीरेसे) अबतक तो मेरा जीवन एक प्रकारसे गम्भीरतापूर्वक चल रहा था परन्तु आज उसमें एक दिल्लगी भी आकर मिल गई।

मेहर—चले आइए। सवेरा होना चाहता है।

चौथा दृश्य।

स्थान—पृथ्वीराजके घरका भीतरी भाग।

समय—रात।

[जोशी बहुत ही दुःखित भावसे अकेली खड़ी है।]

जोशी—चलो, बुझ गया। सारे राजपूतानेमें एक ही प्रदीप जलता था, वह भी बुझ गया। प्रतापसिंह मेवाड़से निकल गये। इस समय वे जंगलों और पहाड़ोंमें भटकते होंगे। हाय! अभागे राजस्थान!

[घबराये हुए पृथ्वीराजका प्रवेश।]

पृथ्वी०—जोशी, जोशी!

जोशी—क्या है?

पृथ्वी०—दरबारकी नई खबर सुनी?

जोशी—भला मैं कहाँसे सुनती!

पृथ्वी०—बड़ी भारी खबर है।

जोशी—क्या हुआ?

पृथ्वी०—हुआ क्या कुछ ऐसा वैसा है? बड़ी भारी बात हो गई है—तुम चुप क्यों हो गई?

जोशी—और क्या करूँ ?

पृथ्वी०—अच्छा तो सुनो ! शक्तसिंह कैदखानेसे भाग गये ।

जोशी—भाग गये ?

पृथ्वी०—अकेले वही नहीं भागे हैं । उनके साथ दौलतुन्निसा भी (भागनेका संकेत करते हैं ।)

जोशी—हैं !

पृथ्वी०—इतना ही नहीं, और भी एक बात है। मैंने तुमसे कहा था न कि शाहजादा सलीमने बादशाह सलामतके पास बहुत कड़ी शिकायत लिख भेजी है ?

जोशी—हाँ ।

पृथ्वी०—कल बादशाह सलामत गुजरातसे लौट आये ।

जोशी—क्यों ?

पृथ्वी०—इन लोगोंका झगड़ा मिटानेके लिये—और क्यों ? यह झगड़ा कुछ ऐसा-वैसा तो है नहीं । एक तरफ मानसिंह और दूसरी तरफ सलीम—एक तरफ राज्य और दूसरी तरफ लड़का ! बादशाह सलामत दोनोंमेंसे एकको भी नहीं छोड़ सकते । और झगड़ा तो मिटाना ही पड़ेगा ।

जोशी—वह कैसे ?

पृथ्वी०—इधर सलीमसे कहेंगे—"अजी जाने दो, मानसिंह हमारे आश्रित हैं, हमारे टुकड़ोंसे पलते हैं" उधर मानसिंहसे कहेंगे—"अजी राजासाहब, आप लड़कोंकी बातोंका खयाल न किया कीजिए।"

जोशी—क्या राणा प्रतापसिंहकी कोई खबर नहीं मिली ?

पृथ्वी०—उँह, खबर क्या मिलेगी ? बस मियाँ जंगल जंगल घूमते हैं । मैंने तो तुमसे पहले ही कह दिया था कि यह अकबरके

साथ लड़ाई है ! हजरत घमंडके मारे ऐंठे फिरते थे, परन्तु यह खबर ही नहीं थी कि जब फन्देमें फँसेंगे तब क्या दशा होगी !

जोशी—(बहुत स्थिरतापूर्वक) प्रभु ! मैं यह तो जानती थी कि तुम क्षत्रिय नहीं हो, परन्तु यह नहीं जानती थी कि तुम इतने बड़े कायर और नीच हो कि जब अपने किसी भाईको एक विदेशीसे पराजित होते देखोगे तो उसके पराजयकी इस प्रकार हँसी उड़ाओगे। (बहुत ही क्षुब्ध होकर रोने लगती है और तत्काल ही कमरेसे निकलजाती है।)

पृथ्वी०—बस, सब कुछ समझ लिया ! यह खूनका जोश है। भला खूनका जोश कहाँ जा सकता है ! मगर एक बात है। और इससे चाहे जो कुछ कहो, सब चुपचाप सुन लेती है—सह लेती है। मगर जहाँ कहीं किसीने प्रतापसिंहकी कोई निन्दा की या उनपर कोई व्यंग्य किया कि बस यह नागिनकी तरह फन उठाकर फुफकारने लगती है। चाहे आजतक मैंने किसी नागिनको फन उठाकर फुफराते न देखा हो, पर फिर भी इसे देखते ही मुझे उसका अनुमान होने लगता है। (धीरे धीरे प्रस्थान।)

पाँचवाँ दृश्य।

स्थान—अकबरका कमरा।

समय—प्रभात।

[अकबर आरामसे पड़े हुए हुक्का पी रहे हैं और सामने सलीम खड़े हैं।]

अकबर—सलीम, मानसिंहने तुम्हारी कोई बेइज्जती नहीं की। उन्होंने जो कुछ किया वह मेरे हुक्मके मुताबिक ही किया।

सलीम—भला इससे बढ़कर मेरी और क्या बेइज्जती होगी ? मैं इतनी बड़ी सल्तनतका शाहजादा, और मानसिंह एक मामूली सिपहसालार ! हल्दीघाटीकी लड़ाईमें उन्होंने मेरे हुक्मका कुछ भी खयाल न किया और अपना अलग ही हुक्म दे डाला । और वह भी एक बार नहीं, कई कई बार ।

अकबर—(कुछ चिन्तित भावसे) हूँ ! लेकिन फिर भी मुझे इसमें मानसिंहका तो कोई कुसूर नहीं दिखाई देता।

सलीम—भला आपको मानसिंहका कोई कुसूर क्यों दिखलाई देने लगा ! वे आपके सालेके लड़के ठहरे ! अगर सच पूछिए तो आपने ही उन्हें इस कदर सिर चढ़ा रखा है।

अकबर—जरा अक्लसे बातें करो । भला तुम्हीं बतलाओ कि मानसिंहका क्या कुसूर है ?

सलीम—यही कि उन्होंने मेरे हुक्मके खिलाफ काम किया ।

अकबर—मगर यह इख्तियार उन्हें मैंने ही दिया था । वे फौजके सिपहसालार थे ।

सलीम—तो फिर मुझे इस लड़ाईमें भेजनेकी क्या जरूरत थी ?

अकबर—क्या जरूरत थी ? यही कि तुम लड़ाईमें उनके साथ रहो और लड़ाईकी सब बातें सीखो ।

सलीम—मानसिंहका मातहत बनकर ?

अकबर—देखो, यह फजूलका घमंड छोड़ दो । तुम आगे चलकर सारे हिन्दुस्तानके बादशाह बनोगे । अभी जरा सीखो कि किस तरह लड़-भिड़कर जीतना होता है और किस तरह सल्तनतका काम चलाना पड़ता है । तुम नहीं जानते कि मानसिंहका मुझपर कितना

एहसान है । इन्हीं मानसिंहकी बदौलत मैंने आधा हिन्दुस्तान—आधा हिन्दुस्तान ही क्यों, अफगानिस्तानतक—जीता है ।

सलीम—आपपर उनका एहसान हो सकता है मगर मुझपर कोई एहसान नहीं है ।

अकबर—देखो, यह शोखी और शरारत छोड़ो । दूसरोंपर हुकूमत करनेसे पहले आदमीको चाहिए कि अपने आपपर हुकूमत करना सीखे। तुम यह न समझना कि मानसिंहके लिये मेरे दिलमें कोई बहुत बड़ी इज्जत है । सच तो यह है कि मैं उससे बहुत डरता हूँ । जब मैं उससे अपना सब काम ले चुकूँगा तब उसे पुराने जूतेकी तरह अलग कर दूँगा । लेकिन जबतक काम पूरा नहीं होता तबतक मानसिंहकी इज्जत करना मेरा और तुम्हारा दोनोंका फर्ज है ।

सलीम—जैसी आपकी मरजी । मगर मैं काफिर मानसिंहकी हुकूमत नहीं मान सकता । अगर आप मेरी इस बेइज्जतीका कोई बदला न लेंगे तो मैं उस पाक परवरदिगारकी कसम खाकर कहता हूँ कि मैं अपने हाथसे उसका बदला लूँगा । मैं देखूँगा कि हम दोनोंमेंसे कौन बड़ा है । (तलवार पर हाथ रखना ।)

अक०—देखो सलीम, जबतक मैं जिन्दा हूँ इस सल्तनतका मालिक मैं हूँ, तुम नहीं । मगर मैं देख रहा हूँ कि इस वक्त तुम मेरे हाथसे बाहर हुए जाते हो । शायद तुम्हारा इरादा कोई फसाद खड़ा करनेका है । अगर तुम यह सल्तनत चाहते हो तो सीधी तरहसे रहो और नहीं तो याद रखना कि इस सल्तनतसे और तुमसे कोई वास्ता न रह जायगा ।

सलीम—मगर मैं यह भी अर्ज कर देना चाहता हूँ कि इस बातका फैसला सिर्फ जहाँपनाहके ही हाथमें नहीं है । (प्रस्थान ।)

अक०—(बहुत ही चकित होकर और कुछ समय तक चुप रह कर) माँ बापका कलेजा भी कैसा होता है ! लोग मर पच कर अपनी इसी औलादके लिये दौलत जमा करते हैं ! जिसे मैं उंगलियोंसे मसल कर खतम कर सकता हूँ उसीकी बदजबानी और शोखी मुझे इस तरह बरदाश्त करनी पड़ती है ।—खुदा ! बापको तुमने मुहब्बतकी जंजीरसे कितना कमजोर बना रक्खा है ! यह सब भी मुझे चुपचाप सहना पड़ा । कौन मेहरुन्निसा ?

[मेहरुन्निसाका आकर अभिवादन करना]

मेहर—जी हाँ, मैं ही हूँ ।

अक०—मेहर, मैंने सुना है कि तुमपर एक बहुत बड़ा इल्जाम है।

मेहर—मैं तो खुद ही इस बारेमें कुछ अर्ज करनेके लिये आ रही थी । मगर मालूम होता है कि शाहजादा सलीमने पहले ही सब बातें आपकी खिदमतमें कह दी हैं ।

अक०—बतलाओ, शक्तसिंहको किसने छुड़ाया ?

मेहर—मैंने, अपने हाथोंसे !

अक०—और दौलतका क्या हुआ ?

मेहर—मैंने शक्तसिंहके साथ उसकी शादी कर दी ।

अक०—(व्यंगपूर्वक) बहुत ठीक ! शक्तसिंहके साथ मेरी भानजी दौलतकी शादी ! एक काफिरके साथ मुगलकी लड़कीकी शादी !

मेहर—जहाँपनाह, यह कोई नई बात नहीं है । आपके वालिद बादशाह हुमायूँ यह रास्ता दिखला गये हैं और आप खुद उस राह पर चल रहे हैं ।

अक०—हम लोगोंने काफिरोंकी लड़कियाँ ली हैं, न कि उन्हें लड़कियाँ दी हैं।

मेहर— एक ही बात है।

अक०—एक ही बात कैसे ?

मेहर—एक ही बात है। वह भी शादी है और यह भी शादी है।

अक०—नहीं, एक ही बात नहीं है। तुम अभी लड़की हो। तुम मुल्की मामलोंको नहीं जान सकतीं।

मेहर—मुल्की मामले न सही, मगर मजहबी मामलोंको मैं अच्छी तरह जानती हूँ।

अक०—क्या मजहबी मामले इतने ही आसान हैं कि तुम उन्हें इस थोड़ीसी उम्रमें ही समझ लोगी ? हरगिज नहीं। तुम क्या जान सकती हो कि दुनियामें अलग अलग इतने मजहब क्यों हैं और एक ही मजहबमें अलग अलग इतनी शाखें क्यों हो गई हैं। दुनियामें इतने बड़े बड़े आलिम और फाजिल पड़े हुए हैं मगर मजहबके मामलेमें उन सबके ही ख्यालात अलग अलग हैं। मैंने बड़ी बड़ी बहसें सुनी हैं और पारासियों, ईसाइयों, मुसलमानों और हिन्दू पंडितोंसे बातें की हैं, मगर मेरी समझमें तो कुछ भी न आया; तुमने जरासी लड़की होकर सब बातें समझ लीं!

मेहर—हुजूर, मुझे इतनी बहसोंका कोई जरूरत ही नहीं नजर आती। मैं तो समझती हूँ कि खुदा भी एक है, मजहब भी एक है और नीति भी एक है! लोगोंने अपनी खुदगरजी, शेखी, और दुश्मनीकी वजहसे उसे बिगाड़ दिया है। इस तारों भरे आसमानको देखिए, लहराते हुए समुन्दरको देखिए, हरीभरी जमीनको देखिए, सब जगह उसी एक खुदाका नाम लिखा हुआ मिलेगा।

लोग उसे परब्रह्म, खुदा, जिहोवा और ईसा वगैरह अलग अलग नाम देकर आपसमें लड़ते झगड़ते हैं, एक दूसरेकी तौहीन करते हैं और गैरोंको फूटी आँखों नहीं देखना चाहते । मगर सच पूछिए तो सब लोग भाई भाई हैं । सिर्फ अलग अलग मुल्कोंमें पैदा होनेकी वजहसे हम अलग नहीं हो सकते । शक्तसिंह भी आदमी हैं और दौलतुन्निसा भी । दोनोंमें फर्क ही क्या है ?

अक०—फर्क यह है कि दौलत मुसलमान है और शक्तसिंह काफिर । फर्क यह है कि दौलत सारे हिन्दुस्थानके वादशाहकी भानजी है और शक्तसिंह विना घरवारका, दुरदुराया हुआ राहका कुत्ता है ।

मेहर—शक्तसिंह भी मेवाड़के राना उदयसिंहके लड़के हैं । आज वह जरूर घरसे निकाले हुए हैं और आप सारे हिन्दुस्तानके वादशाह हैं । मगर कौन कह सकता है कि यह हालत हमेशा वनी रहेगी । एक दिन था जब शाहंशाह अकबरके वालिद भी शक्तसिंहकी तरह निकाल दिये गये थे ।

अक०—अगर शक्तसिंह मुसलमान होता तो मुझे कोई उज्र न होता । मगर वह नीच काफिर है ।

मेहर—चुप रहिए अब्बाजान । इस तरह हिकारतके साथ वार वार इस 'काफिर' लब्जको काममें मत लाइए । क्या आप नहीं जानते कि मेरी अम्मा—मल्का—भी काफिर हैं ?

अक०—वह काफिर हुआ करें, मैं तो काफिर नहीं हूँ । औरतें सिर्फ मरदोंके आरामके लिये हुआ करती हैं । मेरे पास इस तरहकी सैकड़ों औरतें हैं । वे सिर्फ मतलबकी और ऐशकी चीज हैं—इज्जतकी नहीं ।

मेहर—ताज्जुब है कि मैं जहाँपनाहके–हिन्दुस्तानके शाहंशाहके-मुँहसे ऐसी बातें सुन रही हूँ। जिन औरतोंको आप मरदोंके आरामकी चीज समझते हैं वे औरतें भी आपकी तरह दिल रखती हैं और वह दिल आपके ही दिलकी तरह आराम और तकलीफ वगैरहका अनुभव कहता है। औरत ऐशकी चीज है ! मैंने माँसे सुना है कि हिन्दुओंने औरतोंको सहधर्मिणी माना है और उनमें यह बात भी मानी जाती है कि जिस खान-दानमें औरतोंकी इज्जत हुआ करती है वह खानदान हमेशा खुश रहता है। मगर आप आरतोंकी कोई इज्जत ही नहीं करते ! औरतें भी अगर चाहें तो कह सकती है कि मर्द हम लोगोंके आरामके लिये पैदा हुए हैं, हमारे मतलबकी और ऐशकी चीज हैं। मगर उनके खयाल बहुत ऊँचे होते हैं, इसलिये उनके मुँहसे ऐसी बातें नहीं निकलतीं। इसके अलावे वे अपना सारा आराम और सारी जिन्दगी मरदोंपर कुरबान कर देती हैं। उनके आराम और तकलीफको ही आपना आराम और तकलीफ समझती हैं। मगर मरदोंकी तंगदिली देखिए कि उनकी कुछ भी इज्जत नहीं करते। उनको बेइमानी और बेरहमी देखिए कि औरतें कमजोर हैं, इस वजहसे उनके ऊपर बेहद बेइन्साफी और जुल्म करते हैं और अपनी नफरतसे उनकी मुश्किल जिन्दगीको और भी ज्यादा मुश्किल बनाते हैं।

अक०—देखो मेहर, न तो मैं तुमसे बहस करना चाहता हूँ और न ऐसी गुस्ताखी भरी बातें सुनना चाहता हूँ। तुम लोगोंका फर्ज यही है कि चुपचाप मेरा हुक्म मानो। बस और कुछ नहीं।

(अकबरका क्रुद्ध होकर प्रस्थान।)

मेहर—(दृढ़तापूर्वक) मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि मेरा फर्ज क्या है। मेरा फर्ज यही है कि जो शख्स मेरी माँकी इज्जत न करे

और उसे बाँदीकी तरह सिर्फ अपने ऐश आरामकी चीज समझे उसका साथ छोड़ दूँ। चाहे वह वालिद हो और चाहे तमाम हिन्दुस्तानका बादशाह। मुझे जंगलों और पहाड़ोंमें बहुत जगह मिल रहेगी। आजसे मैं बादशाहजादी नहीं बल्कि एक बहुत ही गरीब लड़की हूँ। मगर ऐसी बादशाहजादी बननेसे गरीबीमें ही अपने दिन बिताना बहुत अच्छा है। (प्रस्थान।)

छठा दृश्य ।

स्थान—आगरेमें मानसिंहका महल ।

समय—सन्ध्या ।

[मानसिंह अपने कमरेमें अकेले टहल रहे हैं।]

मान०—जान पड़ता है कि पिताजीने रेवाको मेरे पास उसके ब्याहके लिये भेजा है। और जान पड़ता है कि शायद यह ब्याह इस मुगल खानदानमें ही होगा। ओफ! हम लोगोंकी कैसी अधोगति होती जा रही है! मैंने सोचा था कि मेवाड़के पवित्र वंशगौरवसे अपना यह कलंक धो डालूँगा। मगर मेरी वह आशा भी व्यर्थ हो गई। प्रतापसिंह! मैं तुम्हारा अभिमान नष्ट करके छोड़ूँगा। मैंने सब कुछ पाकर भी अपने वंशका गौरव नष्ट किया है और तुमने सब कुछ खोकर भी उसे बनाये रखा है! मगर मैं किसी न किसी दिन तुम्हारे इस उठे हुए सिरको दबाकर अपने ही बराबर कर लूँगा। मैं तुम्हें जंगल जंगल घुमाऊँगा और तुम्हारे सिरपर आसमानके सिवा और कुछ भी न रहने दूँगा।

[सशस्त्र सलीमका प्रवेश।]

मान०—(आश्चर्यपूर्वक) आइए शाहजादा साहब ! इस वक्त आपने कैसे तकलीफ की ?

सलीम—मैं आपसे अपना बदला चुकानेके लिये आया हूँ।

मान०—बदला ?

सलीम—हाँ, बदला।

मान०—बदला कैसा ?

सलीम—तुम्हारे घमंडका।—महमूद !

[महमूदका प्रवेश।]

सलीम—(महमूदके हाथसे अस्त्र लेकर मानसिंहको देते हुए) इन दो तलवारोंमेंसे जो चाहे पसन्द कर लो।

मान०—शाहजादा साहब ! आपको क्या हो गया है ? मैं जिस सल्तनतका सिपहसालार हूँ आप उसी सल्तनतके शाहजादे हैं। भला मैं आपसे लड़ सकता हूँ ?

सलीम—नहीं, तुम्हें लड़ना पड़ेगा। तुम बादशाह सलामतके साले भगवानदासके लड़के हो और मुगल शाहंशाहतके बेजोड़ सिपहसालार हो। बादशाह सलामत तुम्हारा घमंड सह सकते हैं मगर मैं नहीं सह सकता। लो, तलवार पसन्द कर लो।

मान०—मैं यह जानता हूँ कि मुझसे आपसे नहीं बनती। मगर फिर भी मैं आपपर तलवार नहीं चला सकता। क्योंकि मैंने बादशाह सलामतका नमक खाया है।

सलीम—नहीं नहीं, तुम्हें लड़ना पड़ेगा। आज इस बातका फैसला होगा कि हम दोनोंमेंसे कौन बड़ा है।

मान०—अच्छी बात है, मगर आप पहले अपना मिजाज ठिकाने कर लें ।

सलीम—नहीं, मैं कुछ नहीं सुनना चाहता । यह तलवार लो । (मानसिंहके हाथमें तलवार दे देना ।)

मान०—(हाथमें तलवार लेकर) शाहजादा साहब, क्या आप पागल हो गये हैं ?

(सलीमका मानसिंहपर आक्रमण करना और मानसिंहका वार बचा जाना ।)

मान०—जरा सुनिए तो सही ।

सलीम—नहीं, कुछ नहीं ।

(सलीमका फिर वार करना, मानसिंहके पैरमें चोट आना ।)

मान०—(गरजकर) अच्छा तो फिर ऐसा ही सही । अपने आपको बचाइए ।

(मानसिंहका सलीमपर आक्रमण करना, सलीमका आहत होकर पीछे हटना ।)

मान०—अब भी आप सँभल जायँ । नहीं तो आपका सिर यहीं जमीनपर लोटने लगेगा ।

सलीम—इतना हौसला ! (फिर मानसिंहपर आक्रमण करना ।)

[घबड़ाई हुई रेवाका प्रवेश ।]

रेवा—(दोनों हाथ उठाकर और बीचमें खड़ी होकर) ठहरिए, ठहरिए । यह मकान है, लड़ाईका मैदान नहीं ।

(रेवाका स्वरूप देखकर सलीम रुक जाता है और उसके हाथसे तलवार गिर जाती है । वह दोनों हाथोंसे कुछ देरके लिये अपनी आँखें बन्द कर लेता है और फिर जब आँखें खोलता है तब रेवाको अपने सामने नहीं पाता ।)

सलीम—(आश्चर्यसे) हैं ! यह कौन थी ? कोई औरत थी या देवी ?

साँतवाँ दृश्य ।

स्थान—उदयपुरकी एक पहाड़ी गुफाका बाहरी भाग ।

समय—सन्ध्या ।

[प्रतापसिंह अकेले खड़े हैं ।]

प्रताप—कोमलमीर भी चला गया । धूरमटी और गोगुंडाके किले भी शत्रुके हाथमें चले गये । उदयपुर महावतखाँके हाथमें है । इन सबको खो चुका ! परन्तु इनका दुःख सहा जा सकता है ! घटना-चक्रसे सब कुछ निकल गया और उसी घटनाचक्रसे फिर भी सब कुछ मिल सकता है ! परन्तु माना और रोहिदास ! हल्दीघाटीके युद्धमें तुम दोनोंको मैं जो गँवा चुका हूँ सो तुम लोगोंको अब मैं नहीं पा सकता ।

[धीरे धीरे ईराका प्रवेश ।]

प्रताप—ईरा, तुम भोजन कर चुकीं ?

ईरा—जी हाँ । क्यों पिताजी, यह कौनसा स्थान है ?

प्रताप—उदयपुरका जंगल ।

ईरा—बड़ा सुन्दर स्थान है । यह पहाड़ भी कैसा चुपचाप खड़ा है ! कैसा सुन्दर है !

[भोजन-सामग्री लेकर लक्ष्मीका प्रवेश ।]

प्रताप—बच्चे खा पी चुके ?

लक्ष्मी—हाँ । अब आपके लिये भोजन लाई हूँ ।

प्रताप—मैं क्या खाऊँ, मुझे तो भूख ही नहीं है ।

लक्ष्मी—दिन भर कुछ खाया नहीं और फिर भी भूख नहीं है ?

ईरा—पिताजी, कुछ खा लीजिए !

प्रताप—अच्छा रख दो ।

लक्ष्मी—(प्रतापसिंहके सामने भोजन रखकर) अच्छा तो मैं जाकर बच्चोंको सुला आऊँ ।

(लक्ष्मी चली जाती है । प्रतापसिंह फल मूल खाकर आचमन करते हैं ।)

प्रताप—बस यही तो राजपूतोंका जीवन है ! दिनभर बिना कुछ खाये पीये रहना, और सन्ध्याको यही फल-मूल खा लेना ! दिनभर कठिन परिश्रम करना, और रातको जमीनपर पड़ रहना ! बस यही राजपूतोंका जीवन है । देशके लिये यह पत्तोंपर रखा हुआ फलमूल भी स्वर्गीय अमृतसे बढ़कर मधुर है । माताके लिये यह धूलपर लोटना भी फूलोंकी सेजसे बढ़कर सुखदायक है ।—

[भील सरदार माहूका आकर राणाको अभिवादन करना ।]

प्रताप—कौन ? माहू ?

माहू—हाँ राणाजी, मैं हूँ । आपके आनेका समाचार सुनकर आपके दर्शनोंके लिये आया हूँ ।

प्रताप—अच्छा, अच्छा ।

ईरा—माहू, अच्छे हो ?

माहू—हाँ बहन, तुम तो दुबली हो गई ?

प्रताप—यह जीती है, यही आश्चर्य है । एक तो रोगी शरीर, दूसरे सेवा-टहल तो दूर रही, रहनेके लिये स्थान और समयपर भोजन तकका ठिकाना नहीं ! अभी दिनभर बाद इसने कुछ खाया है ।

माहू—भला इस तरह कबतक काम चलेगा ?

प्रताप—भाई, क्या किया जाय ! बिठूरके जंगलमें भोजनका प्रबन्ध किया था । इतनेमें पाँच हजार मुगलोंने आकर घेर लिया । मैं

अपने दोसौ साथियोंको लेकर पहाड़ी रास्तोंसे होता हुआ दस कोस चलकर यहाँ आया हूँ और इन्हें डोलीपर लाया हूँ।

(माहू निराशाका भाव व्यक्त करता है।)

माहू—राणाजी, आपने कुछ सुना ?

प्रताप—क्या ?

माहू—फरीदखाँके सब सिपाही रायगढ़ चले गये। यहाँ केवल एक हजार सिपाही हैं।

प्रताप—फरीदखाँ! वह कहाँ है ?

माहू—यहीं! आज उसका जन्मदिन है! आज खूब जलसे होंगे। यदि आज उसे घेरा जाय तो बड़ा काम हो।

प्रताप—परन्तु मेरे पास तो केवल सौ ही सैनिक हैं।

माहू—मेरे पास तो हजारों भील हैं। वे सब राणाजीके लिये प्राण दे सकते हैं!

प्रताप—अच्छा तो जाकर उन्हें तैयार करो। आज रातको मुगलोंकी छावनीपर आक्रमण होगा। जाओ, जल्दी जाओ।

माहू—जो आज्ञा। (ईरासे) बहन, तुम अपने शरीरका यत्न करो। नहीं तो कबतक बचोगी! (प्रस्थान।)

प्रताप—इस भील सरदारके समान मित्र संसारमें दुर्लभ हैं। ऐसी विपत्तिके समय इसके भील कितने काम आवेंगे!

ईरा—पिताजी ?

प्रताप—हाँ बेटी।

ईरा—यह युद्ध क्यों किया जाता है ? इस संसारमें हम लोग कितने दिनोंके लिये आये हैं ? इस संसारमें आकर परस्पर प्रेम और

सद्भाव करना और एक दूसरेका दुःख दूर करना चाहिए, या लड़ाई झगड़ा करके और भी दुःख बढ़ाना चाहिए ?

प्रताप—बेटी, यदि हम लोग परस्पर प्रेम करके यह जीवन बिता सकते होते तो संसार स्वर्ग हो जाता ।

ईरा—पिताजी, स्वर्ग कहाँ है ! आकाशमें ? नहीं, मैं तो समझती हूँ कि एक न एक दिन यह पृथ्वी ही स्वर्ग हो जायगी । जिस दिन इस जगत्में केवल परोपकार, प्रीति और भक्तिहीका राज्य रह जायगा, जिस दिन असीम प्रेमकी ज्योति चारों ओर फैल जायगी, जिस दिन लोग स्वार्थका ध्यान छोड़कर परोपकार पर ही दृष्टि रखने लगेंगे उस दिन यह पृथ्वी ही स्वर्ग बन जायगी ।

प्रताप—बेटी, अभी वह दिन बहुत दूर है ।

ईरा—पिताजी, हम लोग उस दिनको पास न लाकर इस प्रकार लहूकी नदियाँ बहाते हुए दूर क्यों हटाते जाते हैं ?

[वालकके वेशमें मेहरुन्निसाको लिये हुए अमरसिंहका प्रवेश ।]

प्रताप—कौन ? अमरसिंह ?—यह तुम्हारे साथ कौन है ?

अमर०—यह अपने आपको महाराज मानसिंहका दूत बतलाता है; परन्तु मुझे इसकी बातपर विश्वास नहीं होता ।

[मेहर टक लगाये प्रतापसिंहकी ओर देखती है ।]

प्रताप—क्या तुम मानसिंहके दूत हो ?

मेहर—क्या आप ही राणा प्रतापसिंह हैं ? क्या यही कुटी आपके रहनेकी जगह है ? क्या यही फल-मूल आप खाया करते हैं ? क्या इन्हीं पत्तोंपर आप सोते हैं ?

प्रताप—हाँ, मैं ही प्रतापसिंह हूँ । सच बतलाओ, तुम कौन हो ?

मेहर—मुझे सच बोलते डर लगता है । कहीं सच बात सुनकर आप मुझे छोड़ न दें !

प्रताप—मैं तुम्हें छोड़ न दूँ ?

मेहर—आप राजपूत कुलके प्रदीप हैं। आप मनुष्यजातिके गौरव हैं। मैंने आपके विषयमें बहुतसी बातें सुनी हैं। उनमें कुछ पर मुझे विश्वास हुआ और कुछ पर नहीं हुआ। परन्तु आज जो मैंने प्रत्यक्ष देखा, वह अद्भुत कल्पनातीत और महिमामय है। मैंने सुना था कि ऐसी दशामें जब कि आप सम्राट् अकबरकी अधीनता स्वीकार करके सम्मानपूर्वक उनके दाहिने आसन पा सकते थे, देश और स्वाधीनताके लिये आप बड़े बड़े कष्ट सह रहे हैं। इस बातपर विश्वास करनेके लिये यहाँ आकर प्रत्यक्ष रूपसे आपकी अवस्था देखनेकी आवश्यकता थी। राणाजी, मैं मानसिंहका दूत नहीं हूँ। (भक्ति, आश्चर्य और आनन्दके मारे मेहरका गला रुँध जाता है।)

प्रताप—तो फिर कौन हो ?

मेहर—मैं स्त्री हूँ।

प्रताप—स्त्री होकर इस वेशमें! और यहाँ!

मेहर—मैं किसी और ही उद्देश्यसे यहाँ आई थी। परन्तु अब मेरी इच्छा होती है कि यहाँ रहकर आपके परिवारकी सेवा करूँ।

प्रताप—परन्तु तुमने अभीतक यह तो बतलाया ही नहीं कि तुम कौन हो ?

मेहर—स्त्रियोंका नाम जाननेकी आपको आवश्यकता ही क्या है?

प्रताप—तुम्हारे पिताका क्या नाम है ?

मेहर—मेरे पिता आपके परम शत्रु हैं। परन्तु इस समय मैं आपके आश्रयमें आई हूँ। इसलिये जबतक आप इस बातकी प्रतिज्ञा न करेंगे कि मेरे पिताका नाम सुननेपर भी आप मुझे परित्याग नहीं करेंगे तबतक मैं अपने पिताका नाम नहीं बतलाऊँगी।

प्रताप—तुम जानती हो कि मैं क्षत्री हूँ और अपने आश्रितका परित्याग करना क्षत्रियोंका धर्म नहीं है ।

मेहर—मेरे पिता—

प्रताप—हाँ हाँ कहो ।

मेहर—मेरे पिता—आपके परम शत्रु सम्राट् अकबर हैं ।

(प्रतापसिंह अवाक् हो जाते हैं और कुछ देरतक तीव्र दृष्टिसे मेहरकी ओर देखते हैं ।)

प्रताप—तुम मुझे धोखा तो नहीं देती हो ?

मेहर—राणाजी, मैंने अपने जीवनमें किसीको धोखा देना नहीं सीखा।

प्रताप—अकबरकी कन्या मेरे पास क्यों आने लगी ?

मेहर—मैं भागकर आई हूँ ।

प्रताप—क्यों ?

मेहर—बतलाती हूँ—

ईरा—मैंने पहचान लिया, यह मेहर है ।

प्रताप—तुम इन्हें पहचानती हो ?

ईरा—हाँ पिताजी, मैं इन्हें पहचानती हूँ । ये अकबरकी कन्या मेहरुन्निसा हैं ।

प्रताप—तुमने इन्हें कहाँ देखा था ?

ईरा—हल्दीघाटीके युद्धक्षेत्रमें ।

प्रताप—(विस्मित होकर और फिर उठकर) मेहरुन्निसा, यद्यपि तुम मेरे शत्रुकी कन्या हो परन्तु फिर भी तुम मेरे आश्रयमें आई हो। इस समय मेरी अवस्था आश्रय देनेकी नहीं है । क्योंकि मैं स्वयं ही निराश्रय हो रहा हूँ । परन्तु मैं फिर भी तुम्हें आश्रय दूँगा और तुम्हारा परित्याग न करूँगा । आओ, भीतर बच्चोंकी माके पास चलो।

(सबका गुहामें प्रवेश ।)

चौथा अङ्क ।

पहला दृश्य ।

स्थान—फिनशराका दुर्ग ।

समय—दोपहर ।

[शक्तसिंह अकेले बागमें टहल रहे हैं ।]

शक्त०—सलीम, मैं इतने दिनोंसे इस दुर्गमें चुपचाप बैठा हूँ, परन्तु इससे तुम यह न समझना कि मैं तुमसे उस पदाघातका बदला लेना भूल गया । आगरेसे आते समय मैंने बहुतसे राजपूत सैनिकोंको एकत्र कर लिया और यहाँ आकर यह किला दखल कर लिया । परन्तु मैं केवल इतना करके ही निश्चिन्त नहीं हूँ । मैं तुमसे बदला लेनेका केवल अवसर देख रहा हूँ । इसी बदला लेनेके लिये मैंने कितने बेचारोंकी हत्या की है और न जाने अभी और कितने बेचारोंकी हत्या होगी । क्या यह मैं कोई अन्याय कर रहा हूँ ? नहीं, बिलकुल नहीं । पुरुषोत्तम रामचन्द्रने भी तो सीताका उद्धार करनेके लिये हजारों निरीह, स्वदेशवत्सल और राजभक्त राक्षसोंकी हत्या की थी ।

[एक दूतका आकर अभिवादन ।]

शक्त०—कुछ समाचार मिला ?

दूत—जी हाँ । राणाजी इस समय बिठूरके जंगलमें हैं । और मानसिंहद्वारा कोमलमीरके जला दिये जानेका समाचार सत्य है ।

शक्त०—अच्छी बात है ! कल यहाँसे कूच होगा ! दुर्गके अधिकारीको भेजो ! (दूतका प्रस्थान ।)

शक्त०—मानसिंह, मैं इसका बदला अवश्य लूँगा । दौलतुन्निसा आ रही है ।

[धीरे धीरे दौलतुन्निसाका प्रवेश ।]

शक्त०—(दौलतको चुप देखकर) क्या है, क्या चाहती हो ?

दौलत—(किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर) सुशीतल छाया ।

शक्त०—हाँ शीतल छाया तो है ही । पर तुम कुछ और भी कहोगी ? क्यों, चुप क्यों हो ?

दौलत—नाथ !—(फिर चुप हो जाती है ।)

शक्त०—कुछ कहोगी भी, या इस दोपहरकी कड़ी धूपमें सिर्फ 'नाथ' और 'प्राणेश्वर' कहनेके लिये यहाँतक आई हो ? इस समय ये सम्बोधन कैसे बेमेल और बेढंगेसे लगते हैं । यदि नया नया प्रेम हो तो यह बातें शोभा भी दे सकती हैं । परन्तु हमारे तुम्हारे प्रेमको तो साल भरसे अधिक हो गया । अब तो ये दिन-दोपहरके 'नाथ' और 'प्राणेश्वर' बिलकुल बेवक्तकी सहनाई जान पड़ते हैं ।

दौलत—नाथ, पुरुषोंके प्रेमके विषयमें तो मैं कुछ कह नहीं सकती, परन्तु स्त्रियोंके प्रेमके विषयमें जानती हूँ कि वह सदा एक समान रहता है ।

शक्त०—इसका तात्पर्य यही है न, कि पुरुषोंकी लालसा तो पूरी हो जाती है परन्तु स्त्रियोंकी पूरी नहीं होती ?

दौलत—क्यों प्रभु, क्या स्वामी और स्त्रीका यही सम्बन्ध है ?

शक्त०—पुरुष और नारीका तो यही सम्बन्ध है । मैं तो नहीं समझता कि पुरोहितके दो चार श्लोक पढ़ देनेसे उसमें कोई विशेषता आ जाती होगी और फिर हम लोगोंके विवाहके समय तो पुरो-

हितोंने श्लोक भी नहीं पढ़े थे । और इस कारण समाजकी दृष्टिसे तुम मेरी पत्नी नहीं, बल्कि केवल प्रेमिका हो ।

दौलत—(सारा चेहरा लाल हो जाता है) प्रभु !

शक्त०—दौलत, इस समय तुम जाओ। स्त्रियोंका अधरामृत पान करनेके अतिरिक्त पुरुषोंको और भी कुछ काम हुआ करते हैं ।

(दौलत सिर झुकाकर धीरे धीरे चली जाती है।)

शक्त०—यही तो स्त्रियोंकी जाति है! कितनी असार और कदाकार हैं । हम केवल अपनी लालसाके कारण इन्हें सुन्दर समझते हैं । स्त्रियाँ ही क्यों, मनुष्यमात्र ही घृणित और नीच जानवर है । ऐसे जीवजन्तु बहुत ही कम होंगे जो नंगे मनुष्योंकी अपेक्षा अधिक सुन्दर न हों । मनुष्य-शरीर कैसा जघन्य है कि वह अपनी पुष्टिके लिये अच्छेसे अच्छे सुन्दर, सुस्वादु और सुगंधित पदार्थ लेता है ! (घृणाका भाव दिखलाते हुए) और कैसे निकृष्ट पदार्थ निकालता है ! शरीरके पसीने तकमें कैसी बदबू होती है ! और फिर मरनेके उपरान्त यदि दो एक दिन यही शरीर पड़ा रह जाय तब तो फिर दुर्गन्धका पूछना ही क्या है !

[दुर्गके अधिकारीका प्रवेश ।]

दुर्गाध्यक्ष—(अभिवादन करके) तो क्या कल ही आपके जानेका विचार है ?

शक्त०—हाँ कल प्रातःकाल ही । यहाँ तुम्हारी अधीनतामें एक हजार सैनिक रहेंगे। और देखो दौलतुन्निसाके यहाँ रहनेका भेद किसीपर खुलने न पावे ।

दुर्गा०—जो आज्ञा ।

शक्त०—जाओ ।

(दुर्गाध्यक्षका प्रस्थान ।)

शक्त०—सलीम ! अकबर ! मुगल-साम्राज्य ! तुम सबका अभिमान एक साथ ही नष्ट करूँगा। (प्रस्थान ।)

दूसरा दृश्य ।

स्थान—नौरोजका मेला ।

समय—सन्ध्या ।

[रेवा अकेली मालाएँ सामने रखे खड़ी है। बहुत सी स्त्रियाँ इधर उधर जा रही हैं। रेवा मेजपर बाईं कुहनी और बाईं हथेलीपर गाल रखे सबको देख रही है। इतनेमें बहुत अच्छे वस्त्र पहने हुए एक स्त्री वहाँ आती है।]

स्त्री—तुम क्या वेचती हो ?

रेवा—फूलोंकी मालाएँ ।

स्त्री—लाओ, देखूँ। यह कौनसा फूल है ?

रेवा—परजाता ।

स्त्री—नाम तो वहुत बड़ा है, मगर माला बहुत छोटी है। दाम क्या है ?

रेवा—पाँच मोहरें ।

स्त्री—यह पाँच मोहरें लो और माला मुझे दो । मैं यह माला वादशाह सलामतको पहनाऊँगी। (माला लेकर प्रस्थान ।)

रेवा—यह तो खुद वेगम साहब हैं ! मगर बादशाह सलामत कहीं दिखलाई न दिये ।

(एक दूसरी स्त्रीका प्रवेश ।)

स्त्री—क्या यहाँ फूलोंकी मालाएँ बिकती हैं ?

रेवा—जी हाँ ।

स्त्री—लाओ, देखूँ ।

(एक माला उठाकर देखती है और उसे रखकर दूसरी माला उठा लेती है ।)

स्त्री—यह काहेके फूल हैं ?

रेवा—कदमके ।

स्त्री—यह दाम लो । (कुछ अशरफियाँ देकर और माला लेकर चली जाती है ।)

रेवा—यह भी कैसा अजब मेला है । ऐसी कोई चीज नहीं है जो यहाँ न हो । काश्मीरके दुशाले, जयपुरके बिल्लौरी बरतन, चीनकी मिट्टीकी पुतलियाँ, तुरकिस्तानके कालीन, सिंहलके शंख, सभी चीजें यहाँ मिलती हैं । मैंने तो आजतक ऐसा मेला नहीं देखा !

[गलेमें माला पहने हुए अकबरका प्रवेश ।]

अक०—यह माला किसकी गूँथी हुई है ?

रेवा—जी, मेरी ।

अक०—क्या तुम महाराज मानसिंहकी बहन हो ?

रेवा—जी हाँ ।

अक०—(स्वगत) सलीम जो किसीके फिराकमें पागल हो रहा था उसकी वजह मालूम हो गई । यह जरूर इस काबिल है कि इतने बड़े शाहजादेकी बेगम बन सके । (रेवासे) लाओ, तुम्हारी और मालाएँ देखूँ । (सब मालाएँ देखकर) तुम्हारी सब मालाओंका क्या दाम है ?

रेवा—एक हजार मोहरें ।

अक०—यह लो, मैंने तुम्हारी सब मालाएँ खरीद लीं ।

(अकबरका मोहरें रखकर सब मालाएँ उठा लेना ।)

रेवा—क्या मैंने ये मालाएँ खुद बादशाह सलामतके हाथ बेची हैं ?

अक०—हाँ । (प्रस्थान ।)

दृश्यान्तर (१)

स्थान—वही नौरोजका मेला ।

समय—रात ।

[कई नाचनेवाली स्त्रियाँ नाचती और गाती हैं ।]

गीत ।

दीपमालिका पहनके हँसती रूपवती नगरी क्यों आज ।
भवन भवनमें पवन साथ क्यों रजनीमें बजते हैं साज ॥
कुसुमगंधसे हुए उच्छ्वसित तोरण खम्भे रंग विरंग ।
रंगमहल सौन्दर्यसिन्धु है खेल रहा है रूप-तरंग ॥
जय जय भारत-भूपति जय जय मोगलराज महाबलवान ।
कीर्ति प्रसारित दक्षिण निधिसा गौरवसा जिसका हिमवान ॥

दृश्यान्तर (२)

स्थान—नौरोज मेलेका कुछ अँधेरा मार्ग जो महलकी ओर जाता है ।

समय—रात ।

[जोशी अकेली मार्ग ढूँढ़ती है । इतनेमें दूसरी ओरसे अकबरका प्रवेश ।]

अक०—तुम यहाँ क्या कर रही हो सुन्दरी ?

जोशी—मैं रास्ता भूल गई हूँ । अगर बादशाह सलामत मेहर-बानी करके मुझे रास्ता बतला देते तो—

अक०—तुमने यह कैसे जाना कि मैं बादशाह हूँ ?

जोशी—मैंने सुना है कि इस मेलेमें बादशाह सलामतके सिवा और कोई मर्द नहीं आ सकता ।

अक०—बहुत ठीक। सुन्दरी! क्या मैं पूछ सकता हूँ कि तुम कौन हो?

जोशी—मैं शाही दरबारके कवि पृथ्वीराजकी स्त्री और मेवाड़की लड़की, जोशीबाई हूँ।

अक०—अच्छा! शायद तुम इस मेलेमें पहले पहल आई हो?

जोशी—जी हाँ। मैं यहाँके रास्तोंसे कुछ भी वाकिफ नहीं हूँ। अगर आप मेहरबानी करके मुझे रास्ता बतला देते तो—

अक०—शायद तुम यह नहीं जानतीं कि यहाँ आनेके रास्ते तो बहुत सहल हैं, मगर यहाँसे जानेके रास्ते बहुत मुश्किल हैं। अगर तुम—

जोशी—आप मेहरबानी करके मुझे रास्ता बतला दें। क्या यही रास्ता है? (जाना चाहती है।)

अक०—(रास्ता रोककर) जब तुम मेहरबानी करके यहाँतक आ पहुँची हो तो उससे भी ज्यादा मेहरबानी करके जरा एक बार मेरे कमरेमें भी चलो!

जोशी—आप रास्ता छोड़ दें।

अक०—तुम बिलकुल अनजान मालूम होती हो! शायद तुम यह नहीं जानतीं कि मैं खूबसूरत औरतोंकी कितनी कदर करता हूँ! सुन्दरी!—(आगे बढ़ना।)

जोशी—मैं जानती हूँ कि यह मेला हरसाल बादशाह सलामतकी इसी तरहकी ख्वाहिशें पूरी करनेके लिये हुआ करता है। मैं अनजान होनेपर भी इतना जानती हूँ कि जिस तरह बादशाह सलामत दूसरोंके मुल्क लूटनेमें बहादुर हैं उसी तरह औरतोंकी इज्जत लूटनेमें भी। परन्तु तो भी मैं आपको इतना नीच नहीं समझती थी कि

अपने महलमें भी किसी कुल-नारीका अपमान करनेमें आपको लज्जा न आयगी ! खैर, आप रास्ता छोड़ दें ।

अक०—मैं तुम्हें जड़ाऊ गहनोंसे लादकर तुम्हारे घर पहुँचा दूँगा।

जोशी—हे परमेश्वर ! यह भी सुनना पड़ा !

अक०—मैं तुम्हें एक छोटा मोटा मुल्क दे दूँगा ।

जोशी—मैं आपके मुल्कपर लात मारती हूँ ।

अक०—प्यारी, तुम्हारा गुस्सेसे लाल चेहरा और भी ज्यादा खूबसूरत मालूम होता है । मैं तुमसे वादा करता हूँ कि यह बात कभी किसीपर जाहिर न करूँगा और न आजके बाद फिर कभी मैं तुमसे किसी किस्मकी ख्वाहिश करूँगा । तुम्हारी इज्जत कम न होगी बल्कि और बढ़ जायगी । तुम्हारा गर्वित मस्तक और भी ऊँचा हो जायगा, नीचा कभी न होगा । आओ चलो ।

(अकबरका आगे बढ़कर जोशीका हाथ पकड़ना ।)

जोशी—(झटकेसे हाथ छुड़ाकर और छुरी निकालकर) खबरदार ! अधम ! कापुरुष ! लम्पट !

(अकबरका पीछे हट जाना ।)

जोशी—याद रखिए, मैं हिन्दू औरत हूँ । यद्यपि कुछ कुलांगार हिन्दू राजाओंने अपनी औरतोंको इस नीच पैशाचिक मेलेमें भेज भेजकर और अपनी इज्जत गवाँकर आपका हौसला बढ़ा दिया है—परन्तु उन्हें मैं हिन्दू नहीं समझती । आजकलके बहुतेरे हिन्दुओंने अपना हिन्दूपन खो दिया है । आप बादशाह हैं, रिआयाके माँ बाप हैं, आपको भले घरकी औरतोंके साथ ऐसा बरताव नहीं करना चाहिए । देखिए, अब मुझे हाथ न लगाइएगा । नहीं तो (छुरी उठाकर) याद रखना यह छुरी पार हो जायगी !

अक०—नहीं नहीं, तुम फजूल नाराज हो गई। मैं सच्ची पाकदामन औरतोंकी दिलसे कदर करता हूँ और कभी किसीकी मरजीके खिलाफ उसपर हाथ नहीं उठाता। अकबर महत् भले ही न हो, पर वह महत्त्वको पहचानता है। आओ, मैं तुम्हें बाहरतक पहुँचा दूँगा।

(अकबरके पीछे पीछे जोशीका प्रस्थान।)

तीसरा दृश्य।

स्थान—पृथ्वीराजका कमरा।

समय—रात।

(पृथ्वीराज कविता कर रहे हैं।)

ब्रह्मलोकमें अज यथा, शचीनाथ ज्यों स्वर्ग।
वैसे ही अकबर भूमिपर, पालत मानव-वर्ग॥

पृथ्वी०—यह तीसरा चरण ठीक बैठता नहीं दिखलाई देता। 'वैसे ही' में छह मात्रायें हैं, इससे दो मात्रायें बढ़ जाती हैं। अगर 'वैसे ही' की जगह 'त्योंही' कर दिया जाय तो ठीक बैठ जाय। परन्तु—

[जोशीका प्रवेश।]

पृथ्वी०—क्यों जोशी; मेला देख आई?

जोशी—हाँ प्रभू, देख आई!

पृथ्वी०—सच कहना कितना चित्त प्रसन्न हुआ? मैंने तुमसे पहले ही कहा था। ऐसा मेला संसारमें कहीं होता ही नहीं। जैसे बादशाहसलामत हैं वैसा ही यह मेला भी है। (फिर वही कविता पढ़ना)

ब्रह्मलोकमें अज यथा, शचीनाथ ज्यों स्वर्ग।
वैसे ही अकबर भूमिपर, पालत मानव-वर्ग॥

जोशी—तुम्हें धिक्कार है ! इस तरहकी कविताएँ करते करते लज्जासे तुम्हारा सिर झुक नहीं जाता ! जीभ कट नहीं जाती ! ऐसी नीच स्तुति ! ऐसी झूठी खुशामद—

पृथ्वी०—क्यों जोशी, इसमें झूठ क्या है ? मेरी समझमें तो बादशाह सलामत इस स्तुतिके योग्य ही हैं । बल्कि यदि इससे भी बढ़कर उनकी स्तुति की जाय तो भी अत्युक्ति न हो । जिसने स्वयं अपने बाहुबलसे काबुलसे लेकर बंगालतकके देश जीते हों, जिसने हिन्दुओं और मुसलमानोंको एक ही प्रेमसूत्रमें बाँध रखा हो—

जोशी—हाँ हाँ, कहे चलो—जो हिन्दू राजाओंकी स्त्रियोंको अपने भोगकी वस्तु समझता हो—

पृथ्वी०—शायद तुमने अकबरको देखा नहीं है, इसीसे ऐसी बातें कहती हो ।

जोशी—देख लिया नाथ ! आज मैंने देख लिया । अगर कटार आज मेरी सहायता न करती तो अबतक तुम्हारी स्त्री भी अकबरकी हजारों वारांगनाओंमेंसे एक होती !

पृथ्वी०—हैं ! यह क्या कहती हो ?

जोशी—क्या कहती हूँ ? यही कहती हूँ कि यदि तुम क्षत्रिय हो, यदि तुम मनुष्य हो और यदि तुममें कुछ भी पौरुष है तो तुम इसका बदला लो । नहीं तो मैं समझ लूँगी कि मेरे स्वामी नहीं हैं—मैं विधवा हूँ । और फिर तुम्हें इस बातका भी अधिकार न रह जायगा कि तुम पत्नी भावसे मुझे स्पर्श करो ।—क्या कहूँ प्रभु ! मुझे तो अब इन सब कायर, कुलकलंक, डरपोंक, और प्राणोंके भयसे सशंकित हिन्दुओंको देखकर पुरुष मात्रसे घृणा होने लग गई है । जी चाहता है कि अब हम लोग अपनी रक्षाके लिये आप ही अपनी तल-

चार उठावें। हाय! एक अस्पृश्य यवन आकर मुझे गले लगानेकी इच्छासे मेरा हाथ पकड़े और तुम चुपचाप खड़े खड़े ये सब बातें सुना करो!

पृथ्वी०—क्या ये सब बातें ठीक हैं?

जोशी—हाँ, बिलकुल ठीक हैं। क्या यह भी संभव है कि भले घरकी कोई स्त्री झूठमूठ अपने ऊपर कलंक लगावे? और यदि इससे भी ज्यादा सुनना चाहो तो जाओ, जाकर अपनी भाभीसे पूछो जो अपना सतीत्व और धर्म नष्ट करके अकबरके दिये हुए गहने पहनकर खुशी खुशी घर आई है और जिस कुलटाको तुम्हारे भाई रायसिंहने चुपचाप अपने घरमें स्थान दे दिया है! क्या आर्यजातिकी इतनी अधोगति हो गई कि वह धन लेकर स्त्रियाँ बेचनेमें भी नहीं शरमाती? धिक्कार है! (क्रोधपूर्वक प्रस्थान।)

पृथ्वी०—मैं यह क्या सुन रहा हूँ! क्या ये सब बातें ठीक हैं? कुछ समझमें नहीं आता कि क्या करूँ और फिर मैं कर ही क्या सकता हूँ! अकबर सर्वशक्तिमान् है। भला मैं क्या कर सकता हूँ कोई उपाय नहीं है!

चौथा दृश्य।

स्थान—पहाड़ी गुफा।

समय—सन्ध्या।

[रोगी ईरा पड़ी है। पास ही मेहरुन्निसा बैठी है।]

ईरा—मेहर!

मेहर—हाँ बहन!

ईरा—माँ रोती रोती उठकर बाहर क्यों चली गई ? क्या मैं मर रही हूँ इसीलिये ?

मेहर—नहीं बहन, ऐसा मत कहो।

ईरा—क्यों न कहूँ ? क्या संसारमें इससे बढ़कर भी और कोई सच बात है ? यह जीवन तो बहुत ही थोड़े दिनोंका है परन्तु मृत्यु सदाके लिये है। मृत्युरूपी समुद्रमें यह जीवन लहरोंकी भाँति बहुत ही थोड़े समयके लिये स्पन्दित होता है और फिर शान्त हो जाता है। जीवनको तो तुम माया या भ्रम कह सकती हो परन्तु मृत्यु अटल है—ध्रुव है। चिरकालतक रहनेवाली संज्ञाहीन निद्रामें यह जीवन चिन्तित मस्तिष्कके स्वप्नके समान आता और स्वप्नके ही समान चला जाता है—मेहर!

मेहर—हाँ बहिन!

ईरा—देखो तुम मुगलकी कन्या हो और मैं राजपूतकी कन्या हूँ। तुम्हारे पिता और मेरे पितामें शत्रुता है। दोनों एक दूसरेके इतने बड़े शत्रु हैं कि कोई किसीका मुख तक नहीं देखना चाहता! परन्तु तुम मेरी मित्र हो। और यह मित्रता मानों बहुत दिनोंकी—मानों पूर्वजन्मकी है। परन्तु मेरा और तुम्हारा परिचय कितने दिनोंका है ? तुम्हें वह दिन याद है जब कि पहले पहल चाचाजीके खेमेमें हम लोगोंकी भेंट हुई थी ?

मेहर—हाँ बहिन याद है।

ईरा—इसके बाद मानों किसीने स्वप्नमें हम लोगोंकी भेंट करा दी। वह स्वप्न था तो बहुत ही थोड़ी देरका परन्तु बहुत ही मधुर था। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि मैं तुम्हें छोड़कर जा रही हूँ और फिर कभी हम लोगोंकी भेंट होगी!

मेहर—फिर भेंट होगी ?—कहाँ ?

ईरा—(आकाशकी ओर उँगली दिखलाकर) वहाँ ! इस समय तुम्हें वह स्थान दिखलाई नहीं देता। क्योंकि जीवनके तीव्र प्रकाशमें वह ठीक उसी प्रकार छिपा हुआ है जिस प्रकार सूर्यके तीव्र प्रकाशमें असंख्य बड़े बड़े तारे छिपे रहते हैं। जिस समय जीवनकी यह ज्योति बुझ जायगी उस समय वह अपूर्व ज्योतिर्मय राज्य चमक उठेगा—दिखलाई पड़ने लगेगा। वाह ! वह दृश्य कैसा सुन्दर होगा !

(मेहर चुपचाप ईराका मुँह देखती है।)

ईरा—देखो मेहर, तुम्हें वह आकाश दिखाई पड़ता है न ? वह कैसा नीला, कैसा सघन और कैसा सुन्दर है। यह सन्ध्याका सूर्य अस्त क्या हो रहा है मानों पृथ्वीको तप्त सोनेके प्रवाहमें वहाये लिये जा रहा है ! आकाशमें यह रंजित मेघ-माला तरह तरहके रंगोंसे खेल रही है, मानों एक नीरव रागिनी है। क्या तुम समझती हो कि ये सब चीजें सचमुचकी हैं ?

मेहर—और नहीं तो कैसी हैं ?

ईरा—ये सब एक परदे पर बने हुए वास्तविक सौन्दर्यके चित्र मात्र हैं। वास्तविक सौन्दर्य तो इस परदेके पीछे छिपा हुआ है। वस इसी सूर्यके पीछे, इसी आकाशके पीछे है।

मेहर—(चुपचाप ईराका मुँह देखती रहती है।)

ईरा—(कुछ ठहरकर) नींद आ रही है ! सो जाऊँ।

[धीरे धीरे प्रतापका प्रवेश।]

प्रताप—(धीरेसे) क्या ईरा सो गई ?

मेहर—हाँ, अभी सोई है।

प्रताप—मेहर, अब तुम जाकर विश्राम करो, मैं बैठता हूँ।

मेहर—जी नहीं, मैं बैठी हूँ। आप दिनभरके थके हैं, आप ही जाकर विश्राम करें।

प्रताप—नहीं, मुझे विश्रामकी आवश्यकता नहीं। अब तुम्हीं जाकर विश्राम करो। जब मुझे विश्राम करना होगा तब मैं तुम्हें बुला लूँगा।

मेहर—बहुत अच्छा। (उठकर जाने लगती है।)

प्रताप—लक्ष्मी कहाँ है ?

मेहर—कदाचित् वे रसोई बना रही हैं। उन्हें बुला लाऊँ ?

प्रताप—कह दो कि काम करके जरा यहाँ हो जाय।

(मेहरुन्निसाका प्रस्थान।)

प्रताप—बस यही मेरी दिनचर्या है। तीन दिनसे बराबर जंगल जंगल भटकता फिरता हूँ और मुगल सैनिकोंसे बचता फिरता हूँ। भोजन करनेको भी समय नहीं मिलता। और तिसपर यह लड़की बीमार है। लड़के लड़कियोंके भी खाने-पीनेका कोई ठिकाना नहीं लगता। बस दिनरात इसी तरद्दुदमें रहता हूँ। (धीरेसे ईराके पास बैठ जाना। इतनेमें नेपथ्यमें लड़के और लड़कीके रोनेकी आवाज सुनाई पड़ती है।)

प्रताप—कल तो मैं मुगलोंके हाथ पड़ते पड़ते बचा। यदि विश्वस्त भील सरदार मुझपर कृपा न करता तो मैं इस अपमानसे किसी प्रकार न बच सकता। उस भील सरदारने मेरे प्राण बचानेके लिये अपने प्राण दे दिये। इस प्रकार मेरे प्राण बचानेके लिये न जाने कितने प्राण जा चुके हैं। मुझे बचानेवालोंकी स्त्रियाँ अनाथा और विधवा हो गई हैं। उनके बाल-बच्चे निराश्रय हो गये हैं। यह सब किसके लिये हुआ है ? केवल मेरे लिये—मुझको बचानेके लिये।

देखता हूँ कि अब मेरी प्रतिज्ञा नहीं रहना चाहती। अब मैं अपनी बात रखनेमें असमर्थ हो रहा हूँ।

[लक्ष्मीका प्रवेश।]

लक्ष्मी—क्या ईरा सो गई?

प्रताप—हाँ सो गई? क्यों लक्ष्मी, बच्चे रो क्यों रहे थे?

लक्ष्मी—वे दोनों बैठकर रोटी खा रहे थे। इतनेमें एक जंगली बिल्ली आकर उनकी रोटी छीन ले गई।

प्रताप—तो फिर आज रातको वे क्या खायँगे?

लक्ष्मी—मैंने अपना अंश उन्हें दे दिया है। हम लोग अगर रातभर भूखे रह जायँगे तो कोई चिन्ता नहीं।

प्रताप—(कुछ देर चुप रहकर) लक्ष्मी!

लक्ष्मी—प्रभु!

प्रताप—लक्ष्मी, तुमने मेरे पल्ले पड़कर बहुत कष्ट सहे हैं। अब तुम्हें अधिक कष्ट न सहना पड़ेगा। अब मैं अपने आपको पकड़वा दूँगा।

लक्ष्मी—नाथ, यह क्यों?

प्रताप—अब मेरे सँभाले नहीं सँभलता। मुझसे अब तुम लोगोंके ये कष्ट नहीं देखे जाते। मैं कबतक गीदड़ोंकी भाँति जंगलों और पहाड़ोंमें छिपता फिरूँ? न तो पेट भरनेके लिये भोजन मिलता है, न रहनेके लिये स्थान है और न सुखसे सोनेका ठिकाना है! मैं तो सब कुछ सह सकता हूँ परन्तु तुम!—

लक्ष्मी—मैं!—नाथ! मुझे तो सबसे अधिक आनन्द आपकी आज्ञाका पालन करनेमें ही मिलता है।

प्रताप—कष्ट सहनेकी भी कोई सीमा होती है । मैं तो कठोर पुरुष ठहरा, सब कुछ सह सकता हूँ । परन्तु तुम स्त्री हो, तुम कहाँ तक सहोगी !

लक्ष्मी—नाथ ! मुझे स्त्री समझकर आप इस प्रकार मेरी अवज्ञा न करें । स्त्रियाँ अपने पतिके सुखको ही अपना सुख समझना जानती हैं और स्वामीके दुःखोंको सिर झुकाकर सहना भी जानती हैं । स्त्रियोंको कष्ट सहना खूब आता है । कष्ट सहनेके लिये ही उनका जीवन है और आत्मोत्सर्ग करनेमें ही उनको अपार सुख मिलता है । नाथ ! तुम जानते हो कि जब तुम्हारे पैरमें एक छोटासा काँटा भी चुभ जाता है तो उसकी पीड़ा मेरे कलेजेमें होती है । हम स्त्रियाँ माता-पिताको प्राणोपम प्यार करती हैं, पतिको भुजाओंमें लपेट कर बचाती हैं और समाजको छातीका रक्त देकर पालन करती हैं ।

प्रताप—परन्तु मेरे कारण इन अबोध बालकोंको भी तो कष्ट हो रहा है !

लक्ष्मी—पहले स्वदेश या पहले बाल-बच्चे ?

प्रताप—लक्ष्मी, तुम धन्य हो ! तुम्हारी तुलना नहीं हो सकती । इस दीनता, इस दुःख और इस विपत्तिके समय भी तुमने मुझे नीचे नहीं गिरने दिया ! परन्तु मुझसे तो अब कुछ नहीं हो सकता ! मैं दुर्बल हूँ, तुम मुझे बल दो । इस समय मैं पिघल रहा हूँ, तुम मुझे कठोर बनाओ । मेरे आगे अन्धकार छाया हुआ है, तुम मुझे दीपक दिखलाओ ।

ईरा—माँ !

लक्ष्मी—हाँ बेटी !

ईरा—कैसा सुन्दर है ! कैसा सुन्दर है ! देखो माँ यह कैसा सुन्दर है !

लक्ष्मी—क्या है बेटी ?

ईरा—यह रंजित समुद्र ! इसमें कितनी देहमुक्त आत्माएँ बही जा रही हैं, कितने असीम सौन्दर्यमय प्रकाशके टुकड़े दौड़ रहे हैं ! आकाशसे लगातार किसे मधुर संगीतकी वर्षा हो रही है। चिन्ता मूर्तिमयी, कामना वर्णमयी, और इच्छा आनन्दमयी है !

प्रताप—(लक्ष्मीसे) शायद यह स्वप्न देख रही है।

ईरा—(चौंककर) सब मिट गया ! यह क्या ? माँ हम लोग कहाँ हैं ?

लक्ष्मी—देखो बेटी, सब लोग यहीं तो हैं !

ईरा—माँ, मेहर कहाँ है ?

लक्ष्मी—बुलाऊँ ?—लो वह आ रही है।

(चुपचाप मेहरका प्रवेश।)

ईरा—मेहर, तुम कहाँ गई थीं ! तुम मुझे ऐसे समयमें छोड़कर चली गई थीं ? देखो, अब मैं जा रही हूँ। आओ, मुझसे दो दो बातें तो कर लो।

लक्ष्मी—छिः! ईरा तुम कैसी बातें कर रही हो ?

ईरा—नहीं माँ, अब मैं जा रही हूँ। तुम लोगोंको कुछ मालूम नहीं होता। परन्तु मैं सब समझ रही हूँ। अब मैं जाती हूँ। परन्तु जानेसे पहले दो एक बातें कह देती हूँ। ध्यान रखना। पिताजीका शरीर ठीक नहीं है। उन्हें क्यों तुम इस निरर्थक युद्धके लिये उत्तेजित करती हो ? उनसे अब ये कष्ट नहीं सहे जाते।—पिताजी ! आप क्यों

व्यर्थ युद्ध करते हैं ? मनुष्य जो कुछ कर सकता है वह सब तो आप कर चुके। यदि अकबर अपना मनुष्यत्व खोकर चित्तौर लेनेमें ही प्रसन्न हैं तो आप उनकी प्रसन्नतामें बाधा न डालें। व्यर्थकी खून खराबीसे क्या लाभ ? आप सब कुछ छोड़ दीजिए और यदि सम्राट् चित्तौर लेना चाहें तो उन्हें दे दीजिए। और भी जो कुछ आपके पास हो वह सब दे डालिए। लें, वे सब ले लें। आखिर यह सब कितने दिनोंके लिये ? अच्छा अब मैं जाती हूँ और अपने स्थानपर मेहरको छोड़े जाती हूँ। आप लोग से मेरी ही तरह मानिएगा। मेहर भी कैसे शुभ समयमें यहाँ आई थी ! यदि वह न आती तो आप लोगोंके सन्तोषके लिए मैं किसे छोड़ जाती ? मेहर ! तुम्हारे साथ मेरी जैसी मित्रता है वैसी तुम्हारे पिताके साथ मेरे पिताकी नहीं है। यदि तुमसे हो सके तो इन लोगोंमें मेल करा देना। देखो भूलना नहीं।

मेहर—ईरा बहिन ! तुम्हारी हरएक बात याद रहेगी।

ईरा—अच्छा, अब मैं जाती हूँ। (मातापिताके चरण छूकर मेहरसे) बहन, अब मैं जाती हूँ। मेरी यह मृत्यु बहुत ही सुखपूर्ण है। मैं अपने माता-पिताकी गोदमें लेटकर उनसे बातें करती हुई मर रही हूँ। अच्छा अब मैं जाती हूँ !

लक्ष्मी—ईरा ! ईरा !

प्रताप—हे भगवान् !

पाँचवाँ दृश्य।

स्थान—अकबरका मंत्रणागृह।

समय—दोपहर।

[अकबर हाथमें एक पत्र लिये हुए उत्तेजित भावसे कमरेमें इधर उधर टहल रहे हैं। सामने मानसिंह खड़े हैं।]

अक०—राजा साहब, आप धन्य हैं! ऐसा कोई काम नहीं है जो आपसे न हो सके और ऐसा कोई दुश्मन नहीं है जिसे आप न जीत सकें। आपने प्रतापसिंहतकको पछाड़ डाला।—आज पृथ्वीराज अभी तक क्यों नहीं आये?

[महावतखाँका आकर अदबसे सलाम करना।]

अक०—महावत! मैं हुक्म देता हूँ कि आज सारे शहरमें फतहका जशन मनाया जाय। हरएक महलके ऊपर रेशमी ध्वजा पताकाएँ उड़ाई जायँ, शाही सड़कोंपर गाना बजाना हो, दिल्लीके आलीशान चौकमें राजपूत और मुसलमानोंके जलसे हों, मन्दिरों और मसजिदोंमें दुआएँ माँगी जायँ, आगरेमें दिवाली मनाई जाय, गरीबोंको दिल खोलकर खाना और कपड़े बाँटे जायँ और खूब खुशियाँ मनाई जायँ। आज राणा प्रतापसिंहने मेरे सामने सर झुकाया है। समझे महावत! जल्दी जाओ।

महा०—जो हुकुम। (प्रस्थान।)

[पृथ्वीराजका प्रवेश।]

अक०—आइए कविराजा साहब! आज आपके लिये एक बहुत अच्छी खुशखबरी है। लीजिए, आप इसपर शायरी कीजिए।

पृथ्वी०—जहाँपनाह, जरा मैं सुनूँ तो कि वह क्या खुशखबरी है?

अक०—राणा प्रतापसिंहने मुझसे हार मान ली ।

पृथ्वी०—जहाँपनाह आप मजाक तो नहीं कर रहे हैं ?

अक०—लीजिए, यह खत देखिए । (पृथ्वीराजके हाथमें पत्र दे देना)

पृथ्वी०—(पत्र पढ़ने लगते हैं ।)

अक०—तो क्यों राजा साहब, प्रतापसिंहको क्या जवाब दिया जाय ?

मान०—यही कि शाहंशाह बहुत ही खुश हैं । आपके आनेकी राह देख रहे हैं । आपकी वैसी ही खातिर की जायगी जैसी कि मेवाड़के बहादुर राणाकी होनी चाहिए । (कुछ ठहरकर स्वगत) परन्तु प्रताप ! आज जो तुमने अपना सम्मान नष्ट किया है उसके सामने दिल्लीमें होनेवाला तुम्हारा सम्मान वैसा ही होगा जैसा कि सच्चे मोतियोंके सामने झूठे मोती ।

पृथ्वी०—जहाँपनाह यह खत जाली है !

अक०—(चौंककर) आपने कैसे जाना कि यह जाली है ?

पृथ्वी०—हुजूर ! मुझे तो इसपर बिलकुल एतबार नहीं । आग ठंढी हो सकती है, सूरज काला हो सकता है, कमल बदशकल हो सकता है, संगीत कर्कश हो सकता है मगर प्रतापसिंह किसीके आगे सर नहीं झुका सकते । यह खत प्रतापके हाथका लिखा हुआ नहीं है ।

अक०—नहीं नहीं, यह प्रतापके ही हाथका लिखा हुआ है । पृथ्वीराज ! मैंने हुक्म दिया है कि कल सवेरेसे आधी राततक आगरेमें खूब जशन हो और खुशी मनाई जाय । अब मैं जाता हूँ । राजासाहब, आप जरा इस बातका खयाल रखें कि जशन वगैरहमें किसी तरहकी कमी न होने पावे । (जल्दीसे प्रस्थान ।)

मान०—कहिए, आप क्या कहते हैं ?

पृथ्वी०—हम लोगोंकी जो एक मात्र आशा थी सो भी जाती रही। राजपूतानेका अन्तिम आशा-दीपक भी बुझ गया। अब तो सम्राट् जो चाहेंगे वही करेंगे। अब इन्हें किसका डर रह गया ? इनके स्वेच्छाचारको अब कौन रोक सकता है ?

मान०—आपके मनका भाव समझ लिया। आप जो अकबरसे नाराज हैं उसका कारण मैं जानता हूँ। यदि आप मेवाड़ जाकर प्रतापसिंहको फिरसे युद्धके लिये उत्तेजित करना चाहें तो कर सकते हैं। मैं बाधा न दूँगा और न कुछ कहूँगा।

पृथ्वी०—आप बहुत उदार और महत् हैं। (प्रस्थान।)

मान०—प्रताप ! प्रताप ! तुमने यह क्या किया ? आज मेवाड़का सूर्य्य अस्त हो गया। आज पर्वतका शिखर टूट पड़ा। (धीरे धीरे प्रस्थान।)

छठा दृश्य।

स्थान—पृथ्वीराजके मकानका बाहरी भाग।

समय—प्रातःकाल।

(बीकानेर, मारवाड़, ग्वालियर और चँदेरीके राजा तथा पृथ्वीराज बैठे हैं।)

मारवाड़—चलो, खुशरोजका मेला भी हो गया।

ग्वालियर—हाँ हरसाल होनेवाली राजपूत स्त्रियोंके अपमानकी लीला पूरी हो गई।

चँदेरी—(बीकानेरके राजासे) आप भी कुछ बोलिए, चुप क्यों हैं? क्या सोच रहे हैं?

बीकानेर—मैं क्या कहूँ?

चँदेरी—इनका रंग तो कुछ बेरंग मालूम देता है! कुछ हुआ जरूर है!

ग्वालियर—लोग कहते हैं कि इस बार खुशरोजके मेलेमें एक घटना हो गई है। क्या यह बात ठीक है?

बीकानेर—नहीं बिलकुल झूठ है।

ग्वालियर—झूठ है!—खुशरोजसे लौटी हुई बीकानेर-रानीके अलंकारोंकी ध्वनि हम लोगोंने अपने अपने महलके कमरोंमें बैठे हुए सुनी है! वाह! कैसी बढ़िया ध्वनि थी—रिनिकि झिनिकि रि नि नि—इस तरहकी आवाज देशी जेवरोंकी नहीं होती! वे तो वाहियात ठिनिक ठिनिक ठिनिनि बजते हैं। यह रिनिनि झिनिनि रिनिनि—बिना मुगल-कारीगरीके हो ही नहीं सकती!

मारवाड़—आखिर इस बार रानीसाहबका कैसा स्वागत हुआ? कहिए तो सही!

बीकानेर—स्वागत ठीक ठीक ही हुआ था।

ग्वालियर—तो भी किस ढंगका हुआ था! सुनें तो सही।

चँदेरी—हाँ हाँ कहिए, साफ साफ ही कह डालिए।

बीकानेर—आप लोग अपने अपने महलमें जाकर पूछिए तब पता लगेगा कि रानियोंका किस तरहका स्वागत किया गया है! पर इतना कह दीजिएगा कि ईमानसे सब सच सच कहें! अपनी अपनी सन्तानके सिर पर हाथ रखकर और धर्मको साक्षी मानकर कहें कि उनका कैसा सत्कार हुआ है! चौराहे पर हंडी फोड़नेसे क्या लाभ?

[लाल लाल आँखें किये हुए जोशीका प्रवेश। उसके बाल विखरे हुए हैं और कपड़े अस्तव्यस्त हैं। जोशीको इस भयंकर वेशमें आते हुए देखते ही सबका उठकर खड़े हो जाना।]

जोशी—(दोनों हाथ ऊपर उठाकर ऊँचे स्पष्ट स्वरसे) हे राजपूत राजाओ! हे राजपूत जाति! और हे धर्म्म! आज मैं जोशीवाई, पृथ्वीराजकी स्त्री, कुलकी लज्जा त्यागकर आप लोगोंके सामने अपने कलंककी वात कहनेके लिये आई हूँ। उस वातको मैं हृदयमें दवाकर नहीं रख सकती। मेरा सारा शरीर जला जा रहा है। सुनो—मैं भी खुशरोजके मेलेमें गई थी और वहाँसे किसी तरह लौट भी आई हूँ। गई थी मान-प्रतिष्ठा लेकर परन्तु आई हूँ उसे खोकर! और ऐसी केवल मैं ही नहीं हूँ। इस वार्षिक लालसा-लीलामें कमसे कम आधी राजपूत स्त्रियाँ मान सम्मान खोकर और आधी धर्म गवाँकर आई हैं। आज मुझे विवश होकर ये सब लज्जा और घृणाकी बातें आपसे कहनी पड़ीं। क्योंकि जब नींद बहुत ही गहरी हो जाती है तब इस तरहकी जूतियोंसे ही वह भंग की जा सकती है। मैं सुना करती थी कि हिन्दू लोग चाहे और कुछ करें या न करें परन्तु वे अपनी स्त्रियोंके सतीत्वकी रक्षा करनेके लिये अपने प्राणतक दे देते हैं। परन्तु आज देखती हूँ कि उनमें इतनी शक्ति भी नहीं रह गई। क्या आज राजपूतोंमें ऐसा कोई भी नहीं है जो हिन्दू स्त्रियोंके सतीत्वकी रक्षा करनेके लिये एक उँगली भी उठा सके?

जोधपुर—हैं क्यों नहीं! राणा प्रताप हैं।

जोशी—नहीं, अब वे भी नहीं रहे। इस देशव्यापी नीचताके बीचमें इतने दिन राणा प्रताप ही अपना मस्तक ऊँचा किये हुए खड़े थे। उन्हींका अजेय हृदय इस मानके और गौरवके विराट् अधःपतनके ऊपर

दिखलाई दे रहा था। इन राजप्रासादभोजी नीच राजपूत राजकुलांगारोंके बीच वे ही इतने दिन गरिमामय गर्वित दरिद्रताको हृदयसे लगाये हुए थे। परन्तु अब सुनती हूँ कि उन्होंने भी अकबरके सामने अपना सिर झुका दिया। अबतक इस देशकी सती स्त्रियाँ उन्हींका नाम जपा करती थीं। परन्तु अब वे प्रतापसिंह नहीं रहे। जब कि राजपूतोंमें स्त्रियोंका सम्मान न हो, जब कि स्वामी अपनी स्त्रीके धर्मकी रक्षा न कर सके तब अन्तिम और एक मात्र उपाय यही रह जाता है। (कटार निकालकर) देखूँ, शायद इसीसे हिन्दुओंकी आँखें खुलें, शायद इसीसे उनका सोया हुआ मनुष्यत्व जाग उठे !

(जोशी अपने कलेजेमें कटार मारकर गिर जाती है, सब लोग आश्चर्यपूर्वक देखते रह जाते हैं।)

पृथ्वी०—जोशी ! जोशी ! यह तुमने क्या किया ? (जोशीके पास जाते हैं।)

जोशी—बस जाओ स्वामी ! मेरा अपमान करनेवालेके चरणोंका चुम्बन करो और उसीके गुणोंका गान करो। जब देखती हूँ कि तुममें और धर्ममें भेद है तब मैं तुमको नहीं धर्मको ही अपनाऊँगी। जब स्वामी अपनी स्त्रीके धर्मकी रक्षा नहीं कर सकता तब स्त्री स्वयं अपने धर्मकी रक्षा कर लेती है।

सातवाँ दृश्य ।

स्थान—पहाड़ी गुफा ।

समय—रात ।

[प्रतापसिंह और लक्ष्मी]

प्रताप—मेहरुन्निसा कहाँ है ?

लक्ष्मी—भोजन बना रही है!

प्रताप—मैं मेहरके साथ अपनी कन्याके समान प्रेम करता हूँ और ईश्वरसे प्रार्थना करता हूँ कि मेरी भावी पुत्रवधू भी उसीके समान गुणवती हो।

(लक्ष्मी चुपचाप खड़ी रहती है।)

प्रताप—छिः तुम फिर उदास हो गईं! तुम्हारी कन्या पुण्यधामको गई है। इसके लिये व्यर्थ दुःख क्यों करती हो?

लक्ष्मी—नाथ! (रोने लगती हैं।)

प्रताप—भला तुम यह तो सोचो कि हमीं लोगोंका जीवन अब कितने दिनोंका है? तुम रोओ मत, शीघ्र ही हम लोग भी उसके पास पहुँच जायँगे!

लक्ष्मी—नाथ, तुम मुझे क्षमा करो। अब मैं न रोऊँगी। तुम मेरे गुरु हो और मैं तुम्हारी शिष्या हूँ। प्राणेश्वर! मैं तुम्हारी योग्य शिष्या बनना चाहती हूँ। (प्रस्थान।)

[गोविन्दसिंहका प्रवेश।]

गोविंद०—राणाजी, आज आगरा नगरीमें इसलिये बड़े बड़े उत्सव हो रहे हैं कि आपने सम्राट् अकबरकी अधीनता स्वीकार कर ली है। महलोंपर पताकाएँ उड़ रही हैं। राजमार्गोंपर रोशनी हो रही है। घर-घर गीत नृत्य हो रहे हैं। यह आपके लिये सम्मानकी बात है।

प्रताप—(रूखी हँसी हँसकर) हाँ सम्मानकी ही बात है!

गो०—अकबरने अपने दरबारमें आपके लिये दाहिनी ओर सबसे पहला आसन रखा है।

प्रताप—सम्राट्का यह असीम अनुग्रह है!

[शक्तसिंहका प्रवेश ।]

शक्त०—भइया कहाँ हैं ?

प्रताप—कौन ? शक्त ?

शक्त०—हाँ भइया, मैं हूँ। मुगलोंके युद्धमें मैं आपकी सहायता करनेको आया हूँ ।

प्रताप—नहीं भाई, अब सहायताकी आवश्यकता नहीं है । मैंने मुगलोंसे दवकर सन्धि करना निश्चय कर लिया है ।

शक्त०—हैं ! क्या आप अकबरसे दब गये ?

प्रताप—हाँ भाई, अब अकबरके साथ मेरा कोई झगड़ा नहीं है । जाय, मेवाड़ जाय, चित्तौर जाय और कोमलमीर भी जाय ।

शक्त०—दुनिया हँसेगी ।

प्रताप—हँसने दो ।

शक्त०—मारवाड़ और चँदेरीवाले हँसेंगे ।

प्रताप—हँसने दो ।

शक्त०—मानसिंह हँसेगे ।

प्रताप—(ठण्डी साँस लेकर) हँसने दो, क्या किया जाय !

शक्त०—भइया, मुझे तो स्वप्नमें भी आपसे ऐसी बात सुननेकी आशा नहीं थी ।

प्रताप—भाई, मैं क्या करूँ ? किसीके सब दिन बराबर नहीं जाते ।

शक्त०—मैं भी तो यही कहता हूँ कि किसीके सब दिन बराबर नहीं जाते। अबतक मेवाड़के लिये विपत्तिके दिन थे परन्तु अब उसके सुदिन आवेंगे । मैं आपको इसी बातकी सूचना देनेको आया हूँ ।

(प्रताप चुपचाप खड़े रहते हैं ।)

शक्त०—भइया आप जानते हैं कि मैं यहाँ आनेसे पहले फिन-सहराका दुर्ग जीत आया हूँ।

प्रताप—तुम!—तुम्हें सेना कहाँसे मिली?

शक्त०—मैंने रास्तेमें ही बहुतसे सैनिक इकट्ठे कर लिये थे। मैं जिस मार्गसे चलता था उस मार्गमें यही चिल्लाता फिरता था कि मैं प्रतापसिंहका भाई शक्तसिंह हूँ। मैं प्रतापसिंहकी सहायता करने जा रहा हूँ। जिसे मेरे साथ चलना हो वह आवे। यह सुनते ही गृहस्थ अपनी स्त्रियोंको छोड़कर, पिता अपनी सन्तानको छोड़कर, और कंजूस अपनी दौलत छोड़कर मेरी सहायताके लिये आने लगे। रास्ता चलनेवाले मजदूरोंने भी अपने सिरपरका बोझ फेककर अस्त्र उठा लिये, कुबड़े सीधे छाती तानकर खड़े हो गये, बस मेरे साथ सैनिक ही सैनिक हो गये! भइया, आपके नाममें जो जादू है उसे आप नहीं जानते, पर मैं जानता हूँ।

[भामाशाहके साथ पृथ्वीराजका प्रवेश।]

पृथ्वी०—राणाजी कहाँ हैं?

प्रताप—कौन? पृथ्वीराज! तुम यहाँ कैसे आये?

पृथ्वी०—राणाजी, आपने अकबरकी अधीनता स्वीकार कर ली?

प्रताप—हाँ पृथ्वीराज।

पृथ्वी०—हाय, हतभाग्य भारत! अन्तमें राणाजीने भी तुझे छोड़ दिया। राणाजी, हम लोग तो नष्ट हो ही गये थे, दास बन ही गये थे। फिर भी इस बातसे हम लोगोंको सन्तोष होता था कि आपने तो अपना गौरव बचा रखा है। हम लोग अभिमानसे इतना तो कह सकते थे कि इतने राजाओंमेंसे आप एक ऐसे राजा हैं जिन्होंने अक-

वरके सामने अपना सिर नहीं झुकाया । परन्तु आज हम लोगोंका वह आदर्श भी नष्ट हो गया !

प्रताप—क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती कि तुम, तुम्हारे भाई बीकानेर, ग्वालियर और मारवाड़ आदिके सभी राजा लोग नीच विलासमें फँसकर अकबरकी प्रशंसाके गीत गाया करते हो और मुझसे इस बातकी आशा करते हो कि सारे राजपूतानेमें अकेला मैं ही दो वक्त रूखे सूखे मौटे अन्नके सामान्य सुखको भी विसर्जन करके तुम लोगोंके अभिमानके लिये आदर्श जुटाता रहूँ ?

पृथ्वी०—राणाजी, आप जानते हैं कि अधम भालूको तो कलन्दर नचाया करते हैं परन्तु सिंह घोर जंगलोंमें प्रतिष्ठापूर्वक रहा करता है ! दीपक बहुतसे हुआ करते हैं परन्तु सूर्य्य एक ही होता है ! शस्यश्यामल भूमिको लोग जोतते हैं और पैरोंसे रौंदते हैं; परन्तु उत्तुङ्ग पर्वत दरिद्र होनेपर भी अभिमानपूर्वक सिर उठाये खड़ा रहता है ! संसारके साधारण जीव अपने क्षुद्र प्राण, क्षुद्र सुख दुःख और क्षुद्र विलासोंको ही लिये पड़े रहते हैं; परन्तु बीचबीचमें भस्म रमाये हुए रूखे बालोंवाले और भूखे सिद्ध संन्यासी आकर उन्हें नये तत्त्व, नई नीति और नये धर्मकी शिक्षा दे जाया करते हैं । अत्याचारकी खुली हुई तलवार उनके सत्यकी ज्योतिको और भी फैलाती है । कारागारका अन्धकार उनकी महिमाको और भी उज्ज्वल करता है । जलती हुई आगकी लपटें उनकी कीर्त्तिका और भी प्रसार करती हैं । आप उन्हीं सिद्ध सन्यासियोंमेंसे हैं । आप इस संसारमें केवल अपने देशका उद्धार करनेके लिये नहीं आये हैं, बल्कि लोगोंको यह सिखलानेके लिये आये हैं कि देशका उद्धार किस प्रकार किया जाता है ! आप ऐसे महान् संन्यासी हैं ! कहीं आप किसीकी अधीनता स्वीकार कर सकते हैं ?

प्रताप—यदि सब राजपूत मिलकर एक हो जायँ और वे दृढ़तापूर्वक यह निश्चय कर लें कि हम भारतवर्षको मुगलोंके हाथसे निकाल लेंगे तो मुगलोंका सिंहासन कितने दिन ठहर सकता है ? तुम देखते हो कि लगातार बीस बरससे मैं अकेला युद्ध कर रहा हूँ। परन्तु इतने दिनोंमें एक भी ऐसा राजपूत राजा न निकला जो मेरे लिये, अपने देशके लिये और अपने धर्मके लिये मेरी कुछ भी सहायता करता। हाय ! आज मैं अपना सर्वस्व खोकर इस घोर पारिवारिक शोकमें पड़ा हुआ हूँ। पृथ्वीराज ! मेरी कन्या ईरा मर गई ! इस जंगलमें उसे खानेके लिये अन्न और इस जाड़ेमें ओढ़नेके लिये पूरे वस्त्रतक न मिले जिससे उस बेचारीके प्राण निकल गये ! अब मैं वह प्रताप नहीं रह गया हूँ, अब तो केवल प्रतापकी ठठरी बच गई है।

पृथ्वी० और शक्त०—(चौंककर) हैं ! क्या ईरा मर गई ?

प्रताप—हाँ, इस दरिद्रताके कठोर तुषारपातसे झड़ गई !

पृथ्वी०—हे परमेश्वर ! क्या ऐसे ऐसे सत्कर्म्मोंका यही परिणाम है ! परन्तु राणाजी, मैं भी आपके ही समान हूँ। आप महानुभाव हैं और मैं नीच हूँ। परन्तु फिर भी मैं आपकी ही तरह दुखी हूँ। जोशी भी अब इस संसारमें नहीं है।

प्रताप—हैं ! क्या जोशी मर गई ?

पृथ्वी०—नहीं, वह मरी नहीं बल्कि मुझ नराधमको छोड़कर स्वर्ग चली गई।

प्रताप—उसकी मृत्यु कैसे हुई ?

पृथ्वी०—मैं अपने कलंककी बात क्या सुनाऊँ ? खुशरोजके मेलेमें शरीक होनेका मेरी नवोढ़ा पत्नीको निमंत्रण आया और मैंने उसे उसकी इच्छाके विरुद्ध वहाँ भेजा। अकबरने पैशाचिक कामनासे उसपर

हाथ छोड़ा, उसने कटार निकालकर अपने सतीत्वकी रक्षा की और अन्तमें घर आकर उसी कटारसे सब राजाओंके सामने अपनी हत्या कर ली !

प्रताप—क्या केवल हिन्दू राजाओंका ही अपमान करके अकबरका सन्तोष नहीं हुआ ? और अब वह हिन्दू-स्त्रियोंपर भी आक्रमण करने लगा ? अकबर ! तुम सचमुच सारे भारतको जीतनेवाले वीर हो ।

शक्त०—मैं इसका बदला लूँगा ।

पृथ्वी०—राणाजी मैं इसीका बदला चुकानेके लिये आपसे सहायता माँगने आगरेसे चलकर यहाँतक आया हूँ । अब आप ही मेरी रक्षा और सहायता कीजिए ।

गोविंद०—क्या राणाजी यह बात सुनकर भी चुपचाप सिर झुकाये खड़े रहेंगे ?

प्रताप—मैं क्या करूँ ? मेरे पास तो कुछ भी नहीं हैं । मैं अकेला क्या कर सकता हूँ ? मेरे पास तो दस सैनिक भी नहीं हैं ।

शक्त०—मैं नई सेना एकत्र करूँगा ।

प्रताप—यदि मेरे पास धन होता तो मैं नई सेना एकत्र कर सकता था । परन्तु क्या करूँ कोशमें बिलकुल धन नहीं ।

भामाशाह—राणाजी, बहुत धन है !

प्रताप—मंत्रीजी, धन कहाँ है ? जहाँतक मैं जानता हूँ राज्यके कोशमें कानी कौड़ी भी नहीं है ।

भामाशाह—चाहे राज्यके कोशमें एक कौड़ी भी न हो परन्तु फिर भी धनकी कमी नहीं है ।

प्रताप—बूढ़े मंत्री ! तुम पागल हो गये हो या तुम्हारी बुद्धि ठिकाने नहीं है ? धन कहाँसे आयगा ?

भामाशाह—राणाजी, जिस समय चित्तौर अपनी उन्नतिके शिखर-पर था उन दिनों मेरे पुरखाओंने चित्तौरके राजवंशसे बहुतसा धन पाया था। वह धन इस समय भी इस सेवकके पास है। यदि आज्ञा हो तो मैं वह धन अभी आपके चरणोंमें लाकर रख सकता हूँ।

प्रताप—आपके पास कितना धन है?

भामा—महाराज, आश्चर्य मत कीजिए, उस धनसे २०,००० सैनिकोंको १४ वर्षतक वेतन दिया जा सकता है।

(सब लोग चकित होकर एक दूसरेकी ओर देखने लगते हैं।)

प्रताप—मंत्रीजी, मैं तुम्हारी स्वामिभक्तिकी हृदयसे प्रशंसा करता हूँ। परन्तु मेवाड़के राजवंशका यह नियम नहीं है कि वह अपने सेवकोंको दिया हुआ धन फिरसे ले। वह अर्थ तुम्हें भोग करनेके लिये दिया गया है। तुम उसका भोग करो।

भामाशाह—राणाजी, जब ऐसा विकट अवसर आ पड़े तब अपने सेवकसे भी धन लेना अनुचित नहीं है। आज मेवाड़के लिये बहुत ही संकटका दिन है। आजकल हिन्दू स्त्रियोंकी जो दुर्दशा हो रही है एक बार उसपर ध्यान दीजिए। जरा सोचिए कि हिन्दुओंकी इस समय क्या दशा है। उनका देश गया, धर्म गया, धन गया और बचाखुचा स्त्रियोंका जो सतीत्व था वह भी चला जा रहा है। राणाजी, आप उसकी रक्षा करें। मैं जो अपने पूर्वजोंकी और अपनी कमाई देता हूँ वह आपको नहीं देता हूँ बल्कि आपके हाथोंमें देश, हिन्दूधर्म और हिन्दू-स्त्रियोंके सतीत्वकी रक्षाके लिये देता हूँ। आप उसे लेकर देशके काममें लगावें। (घुटने टेक देते हैं।)

शक्त०—(घुटने टेककर) भइया, आप देशके लिये यह धन अवश्य ग्रहण करें।

प्रताप—अच्छा ऐसा ही सही । मैं यह धन ले लूंगा । जबतक एक भी राजपूत सैनिक बचा रहेगा तबतक हिन्दू स्त्रियोंका सतीत्व भी बचा रहेगा । अकबर ! तुमने अब साँपके बिलमें हाथ डाला है ।

(प्रस्थान ।)

पृथ्वी०—बस अब भयकी कोई बात नहीं है । सोया हुआ सिंह जाग उठा है । मंत्रीजी, मैंने पुराणोंमें पढ़ा है कि दैत्योंके साथ लड़नेके लिये जब इन्द्रको वज्रकी आवश्यकता हुई तब उसके लिये दधीचिने अपने शरीरके हड्डियाँतक दे दी थीं । वह बात सतयुगकी थी । पर मैं यह नहीं जानता था कि इस कलियुगमें भी ऐसा हो सकता है !

भामाशाह—कविराजाजी, जब कि हिन्दूस्त्रियोंका सतीत्व संकटमें हो, तब कौन ऐसा हिन्दू होगा जो उस सतीत्वकी रक्षा करनेके लिये अपना सर्वस्व देनेको तैयार न होगा ?

शक्त०—अच्छा अब मैं जाकर सेना तैयार करता हूँ । आजसे एक महीनेके अन्दर वीस हजार सैनिक खड़े कर दूँगा । (जाना चाहते हैं ।)

पृथ्वीराज—(शक्तको रोककर) ठहरिए, मैं भी चलता हूँ । एक दिन जोशीने मुझसे कहा था कि ऐसा गीत गाओ जो सारे देशमें छा जाय । आज मैं वही गीत गाऊँगा । वह गीत सारे आकाशमें गूँज उठेगा । वह गीत सारे देशमें आग लगा देगा । वह गीत राजपूतानेके पहाड़ोंके पत्थरोंतकको जगा देगा । राणा प्रतापकी जय !

सब—राणा प्रतापकी जय !

(सबका प्रस्थान ।)

आठवाँ दृश्य।

स्थान—पहाड़ी दर्रा ।

समय—प्रभात ।

[पृथ्वीराज और गायक लोग। कुछ दूरपर देहाती लोग खड़े हैं।
पृथ्वीराज और गायक लोग गाते हैं।]

गीत।

धँस पड़ूँ समरमें शत्रु सामने आता,
रक्षा करना है पीड़ित भारतमाता।
अब कौन करेगा निज प्राणोंकी माया,
आपत्ति बीच है जब जननी और जाया॥
हो दीन पड़े थे अबतक व्याकुल कायां,
लांछित जीवनका दाग बहुत दिन पाया॥
मुगलोंके करमें मान तुम्हारा जाता,
रक्षा करना है पीड़ित भारतमाता।
लख शत्रु सामने पीठ नहीं फेरेंगे,
भयभीत न होंगे जननी प्रति हेरेंगे॥
तलवार तुपक या तीर चले कि भुसुण्डी,
बस अट्टहास कर नाच उठे रणचण्डी।
हम चले, कौन है साथ हमारे आता,
रक्षा करना है पीड़ित भारतमाता॥

पाँचवाँ अंक ।

पहला दृश्य ।

स्थान—मानसिंहका महल ।

समय—सन्ध्या ।

[मानसिंह और महावत खाँ ।]

मानसिंह—क्या शक्तसिंहने हमारे प्रधान व्यापारी शहर मालपुरेको लूटा है ?

महावत—हाँ महाराज !

मान०—उनका इतना हौसला बढ़ गया !

महावत—उधर प्रतापसिंहने कोमलमीरपर भी अधिकार कर लिया है और वहाँ अब वे किला तैयार कर रहे हैं ।

मान०—अच्छा तुम दस हजार मुगलोंको लेकर जाओ और फिनसहराके किलेपर आक्रमण करो । यदि जरूरत हुई तो मैं पीछेसे और भी फौज भेज दूँगा ।

महावत—जो हुक्म ! (प्रस्थान ।)

मान०—यह देवारका युद्ध भी कैसा अद्भुत था ! उसमें प्रतापने कैसा साहस और कैसा कौशल दिखलाया ! वह मुगल-सेनापति शाहबाजकी सेनाको आँधीकी तरह उड़ा ले गया ! धन्य प्रतापसिंह ! आज इस देशमें तुम्हारी बराबरीका और कोई वीर नहीं है । अगर मैं किसी प्रकार तुम्हारे साथ विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित कर

सकता तो मेरा कितना गौरव और कितना सम्मान बढ़ जाता ! परन्तु देखता हूँ कि अब हम लोगोंका भाग्यचक्र पलटने लगा है। तुम्हारा सिर चाहे धड़से अलग हो जाय पर वह झुक नहीं सकता। और मैं मुगलोंके साथ सम्बन्ध करनेसे जितना ही भागता हूँ वह सम्बन्ध उतना ही बढ़ता जाता है। चतुर अकबरने भी अब यह समझ लिया है कि मुझे इस मुसलमानी प्रथाके प्रति घृणा बढ़ने लगी है। इसीलिये उन्होंने सलीमके साथ रेवाका व्याह कराके मुझपर एक नया जाल डालना चाहा है। इस विवाहका यह भी उद्देश्य है कि सलीमकी ओरसे मेरे मनमें जो काँटा है वह निकल जाय। अकबरकी भी कैसी विलक्षण कूटनीति है!

[धीरे धीरे रेवाका प्रवेश ।]

मान०—कौन ? रेवा ?

रेवा—हाँ !

मान०—क्या है ?

रेवा—क्या मेरे विवाहकी बातचीत हो रही है ?

मान०—हाँ ।

रेवा—सलीमके साथ ?

मान०—हाँ बहिन ।

रेवा—क्या तुम इससे सहमत हो ?

मान०—मेरे सहमत होने और न होनेसे क्या होता है ? यह तो अकबरकी इच्छापर है। और उनकी इच्छा ही आज्ञा है।

रेवा—अर्थात् तुम इस विवाहसे सहमत नहीं हो। यही न ?

मान०—हाँ, बहिन !

रेवा—तो फिर यह विवाह न होगा ।

मान०—हैं ! यह तुम क्या कहती हो ? यह तो सम्राट्की इच्छा-पर है !

रेवा—सम्राट्की इच्छाका अधिकार सारे विश्वपर हो सकता है, परन्तु रेवा उनके उस विश्वसे बाहर है ! यह विवाह कभी न होगा।

मान०—तुम कैसी बातें करती हो ? मैं तो वचन दे चुका हूँ।

रेवा—क्यों भईया, क्या तुमने मुझसे बिना पूछे ही वचन दे दिया ? क्या स्त्रियाँ इतनी ही तुच्छ होती हैं कि बिना उनकी सम्मति लिये ही उन्हें जिसके हाथ जी चाहे सौंप दिया जाय ?

मान०—परन्तु मैंने तो यही सोचकर वचन दिया था कि भविष्यमें तुम्हारा जीवन सुखपूर्वक बीतेगा।

रेवा—तो सम्राट्के डरसे नहीं दिया है ?

मान०—नहीं।

रेवा—तो तुम इस विवाहसे सहमत हो !

मान०—हाँ।

रेवा—अच्छा तो फिर मुझे कोई आपत्ति नहीं है !

मान०—रेवा, क्या तुम यह विवाह नहीं चाहतीं ?

रेवा—भइया, जब तुम्हारी इच्छा है तो फिर मेरी इच्छा होने या न होनेसे क्या होता है ? मैं तो यही समझती हूँ कि जो बात तुम्हें पसन्द हो वह मुझे भी पसन्द होनी चाहिए। मेरा कर्तव्य यही है।

मान०—रेवा, तुम इस विवाहसे सुखी होगी।

रेवा—यदि हो तो अच्छा ही है, पर मैं उसकी आशा नहीं करती। (धीरे धीरे प्रस्थान।)

मान०—मैंने अपनी इस वहनके समान उदासीन, अनासक्त और कर्त्तव्यपरायण वालिका दूसरी देखी ही नहीं। वह देखो इस तरहसे गाना गाने लगी, मानों अभी कुछ हुआ ही नहीं! इसका स्वर भी वहुत ही कोमल है। अच्छा चलूँ, दरवारमें जानेका समय हो गया।

(मानसिंह चिन्तित भावसे चले जाते हैं। थोड़ी देर वाद रेवा फिर गाते हुए आती है और उसी कमरेमेंसे होकर चली जाती है।)

गीत।

प्यार करें जिसको हम वह भी हमको प्यार करे तो धन्य।
मरु-काननमें अनिल अनलमें उसे चाहती रहूँ अनन्य॥
चरण-धूलि धोऊँगी उसकी अपने आँसूके जलसे।
हृदयदेवता उसे वनाकर पूजूँगी मन निश्छलसे॥
अगर नहीं वह प्यार करे तो मुझको है अभिमान नहीं।
सुखी रहे वस इस जगतीपर फिर वह चाहे रहे कहीं॥
निरवधिकाल कभी ऐसा होगा कि भूल मैं जाऊँगी।
विपुल जगत है, या आशाका मनोनीत फल पाऊँगी॥

दूसरा दृश्य।

स्थान—फिनसहराके दुर्गका भीतरी भाग।

समय—प्रभात।

[शस्त्र लिये हुए शक्तसिंह अकेले टहल रहे हैं।]

शक्त०—हत्या! हत्या! हत्या! यह संसार एक वहुत वड़ा कसाईखाना है। एक तो भूकम्प, वाढ़, रोग और वृद्धावस्था आदिसे नित्य इस संसारमें कितनी अधिक हत्याएँ होती ही हैं और तिसपर हम लोग मानों उतनेसे सन्तुष्ट न होकर युद्ध, लड़ाई झगड़े, लोभ लालसा और क्रोधके वशमें होकर उस सारे संसारको डुवानेवाली

लहूकी नदीके भीषण स्रोतको और भी बढ़ाते रहते हैं । हम लोग यदि हत्या करें तो वह पाप है और ईश्वर जो इतनी बड़ी बड़ी हत्याएँ करता है वह कुछ भी नहीं ? और फिर यदि समाजमें एक आदमी दूसरेको मार डालता है तो उसे लोग हत्या कहते हैं; और युद्धमें यदि हत्याएँ की जाती हैं तो उनका नाम वीरता होता है ! इस मनुष्यने भी कैसी बढ़िया धर्मनीति तैयार की है । (कुछ दूरपर तोपोंका गरजना सुनकर) लो, फिर वही हत्याओंका काम आरम्भ हुआ । यह मृत्युकी हुँकार है !—लो वह फिर सुन पड़ी !

(घबराये हुए किलेदारका प्रवेश ।)

शक्त०—कहो, क्या खबर है ?

किले०—महाराज, दुर्गके पूर्व ओरकी दीवार टूट गई। अब रक्षाका कोई उपाय नहीं है ।

शक्त०—राणाजीको दुर्गके घेरेका जो समाचार भेजा गया था उसका कोई उत्तर नहीं आया ?

किले०—जी नहीं ।

शक्त०—अच्छा, फौजको तैयार करो। अब ‘ जौहर ’ व्रतका उद्यापन किया जायगा !

(किलेदारका अभिवादन करके प्रस्थान ।)

शक्त०—महाबतखाँ युद्धविद्यामें बहुत ही निपुण है ! दुर्गके पूर्व ओरकी दीवार ही सबसे कम मजबूत थी । इसी लिये उसने सबसे पहले उसीकी खबर ली । अच्छा कोई परवाह नहीं । मैं मृत्युके मुहँमें जानेके लिये तो सदा ही तैयार रहता हूँ, परन्तु सलीम ! तुमसे बदला न ले सका !

[बाल खोले हुए दौलतुन्निसाका प्रवेश।]

शक्त०—कौन? दौलतुन्निसा! तुम यहाँ कैसे आई?

दौलत—नाथ! आप इतने सबेरे कहाँ चले?

शक्त०—मरनेके लिये। अब तो तुम्हें उत्तर मिल गया न? अब महलमें जाओ। क्यों, खड़ी क्यों हो? तुम्हारी समझमें नहीं आया? अच्छा तो सुनो। मैं तुम्हें अच्छी तरह समझाता हूँ। तुम जानती हो कि मुगलोंने इस किले पर हमला किया है?

दौलत—जी हाँ जानती हूँ।

शक्त०—अच्छा, तो अब तुम यह समझ लो कि उन्होंने इस किलेको करीब करीब जीत लिया। राजपूत जातिमें यह प्रथा है कि वे शत्रुके हाथ दुर्ग सौंपनेसे पहले अपने प्राण दे देते हैं। इसीलिये अब मैं सारी सेनाको लेकर दुर्गके बाहर निकलूँगा और वहीं शत्रुसे लड़कर अपने प्राण दे दूँगा। (फिर तोपोंका गरजना सुनकर) लो, सुन लो! अच्छा अब तुम रास्ता छोड़ दो। मैं जाऊँगा।

दौलत—ठहरिए, मैं भी चलूँगी।

शक्त०—तुम भी चलोगी! लड़ाईके मैदानमें! दौलत, शायद तुम यह नहीं जानती हो कि युद्धक्षेत्र प्रेमियोंके सुखसे सोनेकी सेज नहीं है। वह मृत्युकी लीलाभूमि है।

दौलत—नाथ! मैं भी तो मरना जानती हूँ।

शक्त०—सो तो तुम दिनभरमें दस दस बार मरा करती हो, मगर यह मरना उतना सहज नहीं है। यह मरना अभिमानिनी स्त्रीका रोना नहीं है। यह मरना बहुत ही मुश्किल है।

दौलत—सब जानती हूँ, मगर मैं भी तो आखिर मुगलोंकी लड़की हूँ। मैं मरनेसे नहीं डरती। युद्धक्षेत्र मेरे लिये कोई नई चीज नहीं है। मैं भी आपके साथ चलूँगी।

शक्त०—(कुछ देरतक आश्चर्यपूर्वक दौलतकी ओर देखकर) आख़िर मरनेके लिये तुम्हारा इतना आग्रह क्यों है! अभी तुम्हारी अवस्था बहुत ही कम है। अभी तो तुम्हें कुछ दिनोंतक संसारका सुख भोगना चाहिए था।

(दौलतुन्निसाका सफेद चेहरा सहसा लाल हो जाता है।)

शक्त०—समझ लिया। मैंने तुम्हारी इस चितवनका अर्थ समझ लिया। शायद तुम्हारा यह मतलब है कि मैं इतना निष्ठुर हूँ और तुम मुझे बहुत प्यार करती हो! मगर दौलत! इस संसारमें मेरे सिवा और भी तो बहुतसे सुंदर पुरुष हैं।

दौलत—(एकाएक शक्तसिंहकी ओर गर्दन टेढ़ी करके खड़ी हो जाती है और फिर स्थिर और स्पष्ट स्वरमें कहती है—) नाथ! मैं यह तो नहीं जानती कि पुरुषका प्रेम कैसा होता है। परन्तु इतना अवश्य जानती हूँ कि स्त्री एक बार ही प्रेम करती है। प्रेम पुरुषकी शारीरिक लालसा हो सकता है परन्तु स्त्रियोंका तो वह नस नसमें भीना हुआ धर्म्म है। बिछुड़नेके समय, वियोगके समय, निराशाके समय और अवज्ञाके समय, स्त्रियोंका प्रेम ध्रुव तारेके समान स्थिर रहता है।

शक्त०—तुमने तो बिलकुल भगवद्गीताका पारायण ही कर डाला! अच्छा, ऐसा ही सही। तुम भी मेरे साथ चलो। अगर तुम्हें मरनेका इतना ही शौक है तो खैर मुझे कोई आपत्ति नहीं है। मगर यह तो बतलाओ कि आखिर तुम किस साजमें मरना चाहती हो?

(फिर तोपोंकी गरज सुनाई पड़ती है।)

दौलत—वीरोंके साजमें। मैं आपके साथ साथ युद्ध करती हुई मरूँगी।

शक्त०—(मुस्कराकर) दौलत, क्या तुम्हें जवानी युद्ध करनेके सिवा और किसी प्रकारका युद्ध भी आता है ?

दौलत—मैंने आजतक युद्ध तो कभी नहीं किया, मगर मैं मुगलकी लड़की हूँ—तलवार चलाना जानती हूँ।

शक्त०—तो अच्छी बात है। जाओ, जिरहबख्तर पहन आओ! मगर देखो, इतना ध्यान रखना कि कहीं कोई तोपका गोला आकर प्रेमीकी भाँति तुम्हारा चुम्बन न कर ले! जाओ वीर-वेश पहन आओ।

(दौलतुन्निसा चली जाती है। जबतक वह आँखोंकी ओट नहीं होती तबतक शक्तसिंह उसीकी ओर देखते रहते हैं।)

शक्त०—(दौलतके दूर निकल जानेपर) क्या यह सचमुच मेरे साथ मरनेके लिये चल रही है? क्या सचमुच स्त्रियोंका प्रेम केवल विलास—केवल सम्भोग ही नहीं होता? इसने यह एक और झगड़ा लगा दिया!

[किलेदारका पुनः प्रवेश।]

शक्त०—फौज तैयार है ?

किले०—जी हाँ।

शक्त०—अच्छा चलो।

[दोनोंका प्रस्थान।]

दृश्यान्तर।

स्थान—फिनसहराके दुर्गकी दीवार।

समय—प्रभात।

[दीवारके ऊपर शक्तसिंह और वीरवेशमें दौलतुन्निसा खड़ी है।]

शक्त०—(उँगलीसे इशारा करके) देखती हो, वह सामने दुश्मनोंकी फौज है। हम उनका व्यूह तोड़ेंगे। तुमसे यह काम हो सकेगा?

दौलत—हाँ हो सकेगा ।

शक्त०—अच्छा तो चलो । घोड़ा तैयार है । यह जानती हो कि इस युद्धमें मरना अवश्य होगा ?

दौलत—हाँ जानती हूँ ।

शक्त०—तो फिर चलो । क्यों, देर क्यों कर रही हो ? क्या तुम्हें डर लगता है ?

दौलत—भला जब आप मेरे साथ हैं तब मुझे डर किस बातका ? आपको मृत्युके मुखमें देख रही हूँ फिर भी मैं डरूँगी ? मैं तो अपना सर्वस्व खोनेके लिये बैठी ही हूँ तब फिर डरने क्यों लगी ? इतने दिनोंतक आपने मुझसे प्रेम नहीं किया था परन्तु आशा थी कि कभी न कभी आप मुझसे प्रेम करेंगे, मुझे प्रेमपूर्ण दृष्टिसे देखेंगे और स्नेहपूर्ण स्वरसे 'मेरी दौलत' कहकर मुझे पुकारेंगे । उसी आशापर मैं अबतक जीती थी । आज उस आशाका भी अन्त होने-वाला है, तब फिर मुझे डर किस बातका ?

शक्त०—अच्छा तो चलो !

दौलत०—चलो—(शक्तसिंहके दोनों हाथ पकड़कर उनके बिलकुल सामने खड़ी हो जाती है ।)

शक्त०—यह क्या ?

दौलत—नाथ ! मरने तो जा ही रही हूँ । अब मरनेसे पहले शत्रुओंकी इस सेनाके सामने, इस भीषण कोलाहलमें, जीवन और मरणके इस सन्धिस्थलमें, मरनेसे पहले एक बार आप अपने मुँहसे कह दीजिए कि 'मैं तुम्हें चाहता हूँ ।'

(नेपथ्यमें और भी अधिक युद्धका कोलाहल होता है ।)

शक्त०—दौलत, मैंने तो तुमसे पहले ही कह दिया था कि युद्ध-क्षेत्र प्रेमियोंके सुखसे सोनेकी सेज नहीं है।

दौलत—नाथ, मैं यह जानती हूँ परन्तु इस अभागिनीकी यह एक हार्दिक इच्छा है। इस अन्तिम इच्छाको पूरी कर दीजिए। अपने सम्बन्धियों, परिजनों और भोग-विलासोंको छोड़कर मैं आपकी शरणमें आई हूँ। बहुत दिनोंसे मैं आपके मुँहसे यही बात सुनना चाहती थी, परन्तु आजतक मुझे उसके सुननेका सौभाग्य प्राप्त न हुआ। आज मरनेसे पहले मेरी यह इच्छा पूरी कर दीजिए। एक बार प्रेमपूर्वक मेरी ओर देखकर कह दीजिए कि मैं तुम्हें चाहता हूँ।

शक्त०—क्या इसके लिये यही उपयुक्त समय है?

दौलत—हाँ यही समय है। वह देखिए सामने सूर्य निकल रहा है। (तोपोंका गरजना सुनकर) यह देखिए मृत्युका विकट गर्जन हो रहा है। पीछे जीवन और सामने मृत्यु है। इस समय एक बार कह दीजिए कि 'मैं तुम्हें चाहता हूँ।' जो बात आजतक आपने कभी नहीं कही, जिस अमृतका स्वाद आजतक मुझे कभी नहीं मिला, जिस बातको सुननेके लिए मैं इतने दिनोंसे अतिशय भूखे प्यासेकी तरह निष्फल प्रत्याशा कर रही हूँ, एक बार वह बात कह दीजिए। मरनेसे पहले एक बार मैं सुन लूँ कि आप मुझे चाहते हैं। बस फिर मैं सुख-पूर्वक मर जाऊँगी।

शक्त०—हैं! यह क्या? मेरी आँखोंमें जल क्यों भरा आता है? नहीं, दौलत! अब मुझसे यह नहीं कहा जायगा।

दौलत—कहिए, कहिए। (शक्तसिंहके पैर पकड़कर) एक बार कह दीजिए।

शक्त०—अगर मैं कहूँ भी तो तुम विश्वास करोगी ? आज—
(गला भर आता है ।)

दौलत०—भला, मैं आपका विश्वास न करूँगी ? जिसके चरणोंमें मैंने विश्वास करके अपना सारा इहकाल अर्पण कर दिया है उसका विश्वास न करूँगी ? यदि आपकी बात झूठ भी हो तो हुआ करे। मैं न तो फिर कुछ पूछूँगी न तर्क करूँगी। अबतक कभी ऐसा नहीं किया और न आज मरते समय ऐसा करूँगी। यदि कहो कि यह क्यों सुनना चाहती हो ?—तो उसका उत्तर यह है कि मैं स्त्री हूँ और स्त्री जातिकी जो इच्छा सबसे प्रबल होती है मेरी वही इच्छा आजतक पूरी नहीं हुई। आज मैं चाहती हूँ कि पहले वह इच्छा पूरी कर लूँ और तब सुखसे मरूँ। कहिए—कह दीजिए—

शक्त०—दौलत! तुम कितनी सुन्दर हो! तुम्हारे चेहरे पर कैसी स्वर्गीय ज्योति है! तुम्हारा स्वर कितना मधुर है! मैं बड़ा ही मूर्ख हूँ जो आजतक तुम्हारी इन बातों पर मेरा ध्यान नहीं गया। मैं बड़ा ही अन्धा और स्वार्थी हूँ। इसीलिये मैं सारे संसारको स्वार्थी समझता था। मुझे तो स्वप्नमें भी इन बातोंका ध्यान नहीं था। दौलत! दौलत! आज तुमने क्या कर दिया ? जो विचार और जो विश्वास मेरी नसनसमें भरा हुआ था आज तुमने उसे बिलकुल दूर कर दिया! परन्तु ऐसा करनेमें इतनी देर क्यों की ?

दौलत—कहिए, कहिए, एक बार कह दीजिए कि मैं तुमसे प्रेम करता हूँ। देखिए लड़ाईके बाजे बज रहे हैं, अब देर नहीं है, जल्दी कहिए। (फिर शक्तसिंहके पैर पकड़कर) एक बार—केवल एक बार कह दीजिए।

शक्त०—दौलत, मैं सच कहता हूँ कि मैं तुमसे प्रेम करता हूँ। सच्चे हृदयसे कहता हूँ कि मैं तुम्हें चाहता हूँ। मेरे हृदयरूपी झरनेके आगे आजतक एक बड़ा भारी पत्थर पड़ा हुआ था, आज तुमने वह पत्थर हटा दिया। दौलत, प्यारी दौलत, यह क्या! आज मेरे मुहँसे ऐसी बातें क्यों निकल रहीं हैं! आज रुका हुआ झरना खुल गया। अब मैं उसे नहीं रोक सकता। दौलत, मैं तुम्हें सच्चे हृदयसे चाहता हूँ और बहुत ही अधिक चाहता हूँ; परन्तु दुःख केवल यही है कि कदाचित् अब कोई ऐसा अवसर न मिलेगा जब कि मैं तुम्हें अपने प्रेमका प्रमाण दे सकूँ। अब तो मैं मरनेके लिये जा रहा हूँ। मेरे इस प्रेमका यहींसे आरंभ और यहींसे अन्त होता है।

दौलत—अच्छा तो फिर मुझे एक बार अन्तिम चुम्बन मिले।

शक्त०—(दौलतको गलेसे लगाकर और उसका मुँह चूमकर गद्गद स्वरसे) दौलत! मेरी दौलत!

दौलत—बस बस। यह बड़ा ही मधुर मुहूर्त है! बड़ा ही मधुर स्वप्न है! मरनेसे पहले कहीं टूट न जाय। अब चलकर युद्धकी तरंगोंमें कूद पड़ना चाहिए।

शक्त०—चलो, घोड़ा तैयार है।

(दोनों वहाँसे नीचे उतरते हैं। नेपथ्यमें युद्धका कोलाहल होता है। प्राकारके नीचे किलेदार आता है।)

किले०—युद्ध आरम्भ हो गया, परन्तु अब विजयकी आशा नहीं है। उधर दस हजार मुगल और इधर केवल एक हजार राजपूत! कैसा भीषण गर्जन और मत्त कोलाहल हो रहा है!

(नेपथ्यमें " राणा प्रतापसिंहकी जय " सुनाई पड़ती है।)

किले०—(चौंककर) हैं, यह क्या!

(नेपथ्यमें फिर " राणा प्रतापसिंहकी जय " सुनाई पड़ती है ।)

किले०—बस अब चिन्ताकी कोई बात नहीं है। राणाजी दुर्गकी रक्षाके लिये सेना लेकर आ पहुँचे हैं। बस अब डरकी कोई बात नहीं है। (प्रस्थान।)

तीसरा दृश्य ।

स्थान—दुर्गके पासका युद्धक्षेत्र । प्रतापसिंहका डेरा ।

समय—सन्ध्या ।

[प्रतापसिंह, गोविन्दसिंह और पृथ्वीराज शस्त्र लिये खड़े हैं ।]

प्रताप—यह सब भगवतीकी कृपा है ।

पृथ्वी०—स्वयं महाबतखाँ कैद हो गया ।

गोविं०—और आठ हजार मुगल काट डाले गये ।

प्रताप—गोविन्दसिंह, महाबतको यहाँ ले आओ ।

(गोविन्दसिंहका जाना और दो सिपाहियोंके साथ हथकड़ी-बेड़ी पहने हुए महाबतखाँको ले आना ।)

प्रताप—हथकड़ी बेड़ी खोल दो ।

(पहरेदार महाबतकी हथकड़ी-बेड़ी खोल देते हैं ।)

प्रताप—महाबत, जाओ, मैंने तुम्हें छोड़ दिया । अब तुम आगरे चले जाओ । वहाँ जाकर मानसिंहसे कह देना कि मुझे आशा थी कि इस युद्धमें मेरी उनसे भेंट होगी । यदि वे इस युद्धमें आते तो मैं उनसे हल्दीघाटीका बदला चुका लेता । मुगलोंके सेनापति महाराज मानसिंहसे कह देना कि मैं चाहता हूँ कि वे एकबार युद्धक्षेत्रमें मेरे सामने आवें । बस चले जाओ !

(महाबतखाँका चुपचाप सिर झुकाकर चले जाना ।)

पृथ्वी०—उदयपुर तो राणाजीके हाथमें आ गया न ?

प्रताप—हाँ।

पृथ्वी०—तो अब केवल चित्तौर बाकी है ?

प्रताप—अजमेर और मण्डलगढ़ भी बाकी हैं।

(शक्तसिंहका प्रवेश।)

प्रताप—आओ भाई! (उठकर शक्तसिंहको गले लगा लेना।) भाई, अगर क्षणभरकी और देर होती तो मैं तुम्हें जीता न पाता।

शक्त०—भइया, आपने मेरी रक्षा तो अवश्य की है परन्तु—(ठण्डी साँस लेकर) इस युद्धमें मैंने अपना सर्वस्व खो दिया।

प्रताप—क्यों, क्या हुआ!

शक्त०—मेरी स्त्री, दौलतुन्निसा चली गई!

प्रताप—तुम्हारी स्त्री दौलतुन्निसा!!!

शक्त०—हाँ मेरी स्त्री दौलतुन्निसा।

प्रताप—हैं! क्या तुमने मुसलमानीसे विवाह किया था ?

शक्त०—हाँ भइया, मैंने मुसलमानीसे विवाह किया था।

प्रताप—(कुछ देरतक चुप रहकर और फिर माथेपर हाथ मारकर) भाई! भाई! यह तुमने क्या किया ? मैंने अपना सर्वस्व नष्ट करके इतने दिनोंतक अपने वंशके गौरवकी रक्षा की थी। (लम्बी साँस ले लेते हैं। कुछ देरतक चुप रहकर फिर सूखे, स्थिर और दृढ स्वरसे कहते हैं–) नहीं शक्तसिंह! मेरे जीते जी तो यह बात कभी न हो सकेगी। आजसे तुम मेरे भाई नहीं हो, मेरे कोई नहीं हो। मेवाड़ राजवंशसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु फिनसहराका दुर्ग स्वयं तुमने जीता है। उससे तुम्हें वंचित करनेका मुझे अधिकार नहीं है। परन्तु इतना

अवश्य है कि आजसे मैं तुम्हें और उस दुर्गको मेवाड़वंश और मेवाड़राजसे बाहर समझूँगा।

पृथ्वी०—राणाजी, आप यह क्या कर रहे हैं ?

प्रताप—पृथ्वीराज, मैं जो कुछ कर रहा हूँ उसे बहुत अच्छी तरह समझता हूँ । शक्तसिंह ! आजसे तुम मेवाड़के कोई नहीं हो। मेरे राजवंशसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। (क्रोध और दुःखके मारे दोनों हाथोंसे अपनी आँखें बन्द कर लेते हैं ।)

गोविंद०—राणाजी—

प्रताप—गोविंदसिंह, चुप रहो। आजतक मैं अपनी जानपर खेलकर इस पवित्र वंशके गौरवकी रक्षा करता आ रहा हूँ। इसके लिये अपने भाई, स्त्री और पुत्र तकको छोड़ना पड़ेगा तो छोड़ दूँगा। मैं जबतक जीता रहूँगा तबतक इस वंशके गौरवकी रक्षा करूँगा। मेरे बाद जो कुछ होना होगा वह होगा।

पृथ्वी०—राणाजी, शक्तसिंह इस युद्धमें—

प्रताप—हाँ, मैं यह जानता हूँ कि शक्तसिंह इस युद्धमें मेरे दाहिने हाथ हैं परन्तु जिस प्रकार व्याधिग्रस्त दाहिना हाथ कटवा दिया जाता है उसी प्रकार मैं इनका परित्याग करता हूँ। (प्रस्थान ।)

पृथ्वी०—हाय ! अभागे राजस्थान ! (प्रस्थान ।)

(पृथ्वीराजके पीछे गोविंदसिंह भी चुपचाप चले जाते हैं ।)

शक्त०—भइया ! मैं आपकी देवताओंके समान भक्ति करता हूँ परन्तु दौलतुन्निसाको आपकी आज्ञा होनेपर भी नहीं छोड़ सकता। मैं एक नहीं, सौ बार कहूँगा कि मैंने उससे विवाह किया था। चाहे उस विवाहमें मंगलवाद्य न बजे हों, चाहे उसमें पुरोहितने मंत्रोच्चार न

किया हो और चाहे उसमें अग्निदेवको साक्षी न रखा गया हो, परन्तु फिर भी वह विवाह हुआ था । अब तो मुझे यही कहनेमें सुख मिलता है कि मैंने उसके साथ विवाह किया था । राणाजी, आप देवता अवश्य हैं परन्तु वह भी देवी ही थी। जिस प्रकार आपने मेरी आँखें खोलकर मुझे पुरुषोंका महत्त्व दिखलाया है उसी प्रकार वह भी मेरी आँखें खोलकर मुझे स्त्रीजातिका महत्त्व दिखला गई है। मैं सदा पुरुषोंको स्वार्थी ही समझा करता था। परन्तु आपने मुझे दिखला दिया कि संसारमें स्वार्थत्यागके महातंत्रके प्रतिष्ठाता पुरुष भी हैं। मैं स्त्रियोंको तुच्छ, असार और कदाकार जीव समझता था, परन्तु उसने मुझे दिखला दिया कि स्त्रियोंमें भी सौन्दर्य होता है। अहा! वह सौन्दर्य कैसा अद्भुत और प्रभावशाली था! आज प्रातःकाल वह मेरे सामने खड़ी थी। उसके मुखपर कैसा स्वर्गीय प्रकाश, कैसा स्वर्गीय तेज और कैसी स्वर्गीय शोभा थी! उसके चेहरेपर स्वर्गीय ज्योतिकी छटा दिखलाई देती थी। उसके बहुत दिनोंके संचित पुण्यरूपी जलसे उसका मुख मानों धुल गया था। पृथ्वी मानों उसके चरणोंमें स्थान पाकर अपने आपको धन्य समझ रही थी। हाय, वह कैसी शोभा थी! हत्या राक्षसीके उस धूमीभूत निःश्वासमें, मरणकी उन प्रलय-कल्लोलोंमें, जीवनके उस गोधूलि लग्नमें वह कैसी अच्छी जान पड़ती थी! (धीरे धीरे प्रस्थान।)

चौथा दृश्य।

स्थान—कोमलमीरके उदयसागरका तट।

समय—चाँदनी रात।

[मेहरुन्निसा अकेली बैठी हुई गा रही है।]

गीत।

वह उठ क्यों आता है याद।
सबको छोड़ उसीपर जाता, क्या मिलता है स्वाद॥
निखिल स्वरोंमें केवल वह स्वर क्यों रुचता है हाय।
सोते सपने या जगनेमें उस मुखका उन्माद॥
पी थी मोहमयी मदिरा अब नशा न उसका शेप।
अरी पाप-कामना हमें क्यों तू करती बरबाद॥

मेहर—कैसी सुहावनी रात है! चारों ओर कैसा सन्नाटा छाया हुआ है और सुन्दर चाँदनी छिटकी हुई है। (कुछ ठहरकर) परन्तु मुझे रह रहकर उनकी बातें क्यों याद आती हैं! इतने दिन बीतने पर भी मैं उन्हें भूल न सकी! अपने पिताके गहरे स्नेह और आगरेके महलको अवश्य ही मैंने अपनी इच्छासे छोड़ा है। परन्तु फिर भी मुझे यहाँ कौन खींच लाया?—वही शक्तसिंह। यहाँ आकर मैंने प्रतिज्ञा की है कि मैं सामना होनेपर भी आँख भरकर उनकी ओर न देखूँगी। अबतक मैंने उस प्रतिज्ञाका निर्वाह भी किया है। परन्तु फिर भी मुझसे यह जगह छोड़ी क्यों नहीं जाती? इसका कारण यही है कि यहाँ दिनरातमें कमसे कम एक बार उनका नाम तो सुननेमें आता है। उनका नाम सुननेसे ही मुझे कितना सुख होता है! परन्तु अब तो मुझसे नहीं रहा जाता। अबतक तो मुझे ईराका आसरा था। उसीके साथ रहकर मैं इस प्रलोभनसे, इस चिन्तासे, अपनी जान

छुड़ाये रहती थी। परन्तु अब वह आसरा भी न रह गया। अब तो मुझसे अपना आप सँभाला नहीं जाता।—नहीं, अब इस स्थानको छोड़ देना ही ठीक है। यदि दौलतुन्निसाको मेरी ये सब बातें माळूम हो जायँगी तो उसे बहुत ही दुःख होगा। मेरी प्यारी बहिन! हाय, कितने दिनोंसे मैंने तुम्हें नहीं देखा। तुम्हारी खबर भी सुननेमें नहीं आई। जान पड़ता है कि राणाजीके भयसे शक्तसिंहने वह बात किसीसे नहीं की। एक बार यह खबर उड़ती उड़ती राणाजीके कानोंतक पहुँची थी, परन्तु उन्होंने उसपर विश्वास नहीं किया। परन्तु इतना मैंने अवश्य देख लिया था कि वह बात सुनते ही उनका चेहरा लाल हो गया था। मेरी समझमें नहीं आता कि प्रेमके स्वतंत्र राज्यमें इस प्रकारकी अनावश्यक सामाजिक बाधाएँ क्यों डाली जाती हैं, ऐसे विभाग क्यों किये जाते हैं और ऐसी हदें क्यों बाँध दी जाती हैं! परन्तु बहन दौलतुन्निसा! मैंने जो कुछ किया वह सब तेरे ही सुखके लिये किया। बहन, तू सुखसे रह, बस इतनेसे मैं भी सुखी हूँ। तेरे सुखसे हा मेरा सन्तोष है।

[दासीका प्रवेश।]

दासी—शाहजादी साहबा!

मेहर—(चौंककर) कौन?

दासी—राणाजी लौट आये हैं। माताजी आपको बुला रही हैं। बादशाह सलामतके यहाँसे आपके नाम चिट्ठी आई है।

मेहर—मेरे नाम चिट्ठी आई है? कहाँ है?

दासी—राणाजीके पास है। कुमार अमरसिंहजी तो यहाँ नहीं आये थे?

मेहर—नहीं।

दासी—तब फिर वे कहाँ चले गये ? जाऊँ, जाकर उन्हें देखूँ।
(प्रस्थान ।)

मेहर—अब्बा ! अब्बाजान ! आज इतने दिनों बाद मेरा खयाल आया ! चलकर देखूँ कि उसमें क्या लिखा है । कौन ? अमरसिंह ?

[अमरसिंहका प्रवेश ।]

अमर०—हाँ मैं ही हूँ ।

मेहर—अभी दासी तुम्हें ढूँढ़ने आई थी । चलो चलें ।

अमर०—ठहरो चलता हूँ ! (बढ़कर मेहरुन्निसाका हाथ पकड़ लेते हैं।)

मेहर—हैं, यह क्या ! मेरा हाथ छोड़ दो ।

अमर०—छोड़ता हूँ पर पहले मेरी बात सुन लो। ठहरो, मैं तुमसे एक बात कहूँगा ।

मेहर—तुम्हारी आवाजसे मालूम होता है कि तुम शराब पीकर आये हो । कहो, क्या कहते हो ?

अमर०—तुम जानती हो, मैं तुमसे क्या कहता था ? वह सामने देखो उस सरोवरमें चंद्रमाकी छाया पड़ रही है। इस समय वह कैसी सुन्दर मालूम देती है ! देख रही हो न ?

मेहर—हाँ देखती हूँ ।

अमर०—और यह आकाश, यह चाँदनी, यह ठंडी हवा—देख रही हो न ? आखिर यह सब सौन्दर्य किस लिये तैयार हुआ है ?

मेहर—मैं नहीं जानती, चलो घर चलें ।

अमर०—तुम नहीं जानतीं पर मैं जानता हूँ । यह सब सौन्दर्य भोगनेके लिये तैयार किया गया है।

मेहर—अच्छा अब तुम रास्ता छोड़ दो ।

अमर०—मेहर! यदि आदमी इस लबालब भरे हुए प्यालेको पीता ही नहीं तो फिर प्रकृति इसे उसके होठोंके पास रखती ही क्यों ?

मेहर—चलो घर चलें। (जानेके लिये आगे बढ़ती है।)

अमर०—(रास्ता रोककर) मैंने बहुत दिनोंतक दबा रखा था परन्तु अब मुझसे नहीं रहा जाता। सुनो, मेहरुन्निसा, मैं युवक हूँ और तुम युवती हो, और यह एकान्त स्थान है और तिसपर ऐसी बढ़िया चाँदनी रात है !—

मेहर—देखो, आज तुमने फिर शराब पी है। तुम नहीं जानते कि तुम क्या कह रहे हो।

अमर०—नहीं मेहर, मैं अच्छी तरह जानता हूँ। (फिर मेहरुन्निसाका हाथ पकड़ लेते हैं।)

मेहर—(जोरसे) मेरा हाथ छोड़ दो।

अमर०—प्यारी मेहरुन्निसा ! (मेहरुन्निसाको खींचकर गलेसे लगाना चाहते हैं।)

मेहर—अमरसिंह मेरा हाथ छोड़ दो। (हाथ छुड़ानेकी चेष्टा करते हुए) अरे कोई है ?

(लक्ष्मी और प्रतापसिंहका प्रवेश।)

प्रताप—क्या है ? मैं आगया। (गम्भीर स्वरसे) अमरसिंह !

(अमरसिंह मेरुन्निसाका हाथ छोड़कर दूर खड़े हो जाते हैं।)

प्रताप—अमरसिंह, यह क्या ? मैंने तो पहले ही समझ लिया था कि बचपनमें जो ऐसा आलसी है वह युवावस्थामें अवश्य ही दुराचारी और उच्छृंखल होगा। पर यह बात स्वप्नमें भी मेरे ध्यानमें नहीं आई थी कि मेरा पुत्र एक आश्रित अबलाके साथ इस प्रकारका अत्याचार करेगा। खड़ा रह दुष्ट, कुलाङ्गार, मैं तुझे इसका दण्ड दूँगा। (पिस्तौल निकाल लेते हैं।)

अमर०—पिताजी, पिताजी ! (प्रतापसिंहके पैरोंपर गिर पड़ना ।)

प्रताप—कायर कहींका ! क्षत्रिय होकर मरनेसे डरता है ? खड़ा रह !

लक्ष्मी—(प्रतापसिंहके पैरोंपर गिरकर) नाथ, क्षमा करो । यह मेरा ही दोष है । मैं इतने दिनोंतक जान बूझकर भी अनजान बनी हुई थी ।

प्रताप—नहीं, मैं इसे बिना दण्ड दिये नहीं मानूंगा । यह अप-राध क्षमा नहीं किया जा सकता ।

मेहर—राणाजी, आप इनको क्षमा कर दीजिए । इस समय ये होशमें नहीं हैं । ये शराब पीकर आये हैं इसीलिये—

प्रताप—हैं ! क्या यह शराब पीकर आया है ?

अमर०—पिताजी, मुझे क्षमा कीजिए ।

प्रताप—(पिस्तौल उठाकर) नहीं, मैं तुझे कभी क्षमा न करूँगा ।

मेहर—राणाजी, आप पुत्रहत्या न करें ।

लक्ष्मी—(अमरसिंहके आगे खड़ी होकर) इसे मारनेसे पहले मुझे मार डालो ।

(इसी समय एकाएक प्रतापसिंहके हाथसे पिस्तौल छूट जाती है और लक्ष्मी गिर पड़ती है ।)

मेहर—अरे यह क्या हो गया ! माँ ! माँ ! (दौड़कर लक्ष्मीका सिर उठाकर अपनी गोदमें ले लेती है ।)

प्रताप—लक्ष्मी !—लक्ष्मी !—

लक्ष्मी—नाथ ! अमरसिंहको क्षमा कर दो ! मैंने अपने जीवनमें यह एक ही बार आपकी बात नहीं मानी । सो इसके लिये मुझे भी

क्षमा कर दो। अन्त समय मुझे अपने चरणोंमें स्थान दो। (प्रतापसिंहके पैर पकड़कर लक्ष्मी प्राण दे देती है।)

प्रताप०—मेहर, मैंने यह क्या किया !

(अमरसिंह स्तम्भित होकर खड़े रहते हैं और मेहरुन्निसा रोने लगती है।)

प्रताप—हे परमेश्वर ! मैंने पूर्वजन्ममें कौनसा पाप किया था। जिसके कारण मुझे सभी प्रकारकी विपत्तियाँ सहनी पड़ रही हैं। हाय ! मेरी आँखोंके आगे अँधेरा छा रहा है। (मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैं।)

पाँचवाँ दृश्य।

स्थान—अकबरके महलका कमरा।

समय—दोपहर।

[अकबर और मानसिंह आमने-सामने खड़े हैं।]

अकबर—मानसिंह, मैं सब सुन चुका। एक एक करके सारे किले हमारे हाथसे निकलते जा रहे हैं। यहाँतक कि महाब्रतखाँको भी हारना पड़ा। उसे राजपूतोंने गिरफ्तार कर लिया और प्रतापकी मेहरबानीसे उसका छुटकारा हुआ। अफसोस ! मुझे यह भी सब सुनना पड़ा !

मान०—जहाँपनाह, प्रतापसिंह आजकल मूर्तिमान प्रलय है। किसकी शक्ति है कि उसकी गतिके रोके !

अकबर—राजा साहब, मैंने यह सुननेके लिये आपको नहीं बुलाया।

(मानसिंह चुप हो जाते हैं।)

अक०—राजा साहब, आप जानते हैं कि इसका मतलब सिर्फ मुगलोंका हारना ही नहीं है, यह मुगलोंकी बेइज्जती है ! आगे चलकर इसका नतीजा यह होगा कि रिआयाके खयाल बहुत ही खराब हो जायँगे और जिन राजाओंको मैंने अबतक दबा रखा है वे सिर उठाने लगेंगे । दुनियामें सिर्फ बीमारी ही छूतसे नहीं फैलती है बल्कि तन्दुरुस्ती भी छूतसे फैलती है । डरपोकोंको देखकर और लोग भी डरपोक हो जाते हैं और बहादुरोंको देखकर सब लोग बहादुर हो जाते हैं । पाप ही उड़कर नहीं लगता है, धर्म भी छुआछूतसे फैलता है । आपने कभी इस बातपर भी खयाल किया है कि प्रतापसिंहकी इन सब बातोंका दूसरे लोगोंपर क्या असर पड़ेगा ? उसकी स्वदेशभक्ति भी अब छूतकी बीमारी बन रही है !

मान०—(सिर झुकाकर) जी हाँ ।

अक०—अच्छा तो फिर पहलेसे ही इसका बन्दोबस्त भी हो जाना चाहिए । जिस तरह हो प्रतापकी इन कार्रवाइयोंको रोकना चाहिए। इसमें चाहे जो कुछ खर्च हो और चाहे जितनी जाने जायँ ।

(मानसिंह चुपचाप रह जाते हैं ।)

अक०—(मानसिंहके मनका भाव समझकर) महाराज, मैं यह जानता हूँ कि आप प्रतापसिंहकी बहादुरीसे बहुत खुश हैं और सचमुच प्रतापसिंह बहुत बहादुर हैं । मगर फिर भी मैं यह समझता हूँ कि जिस सल्तनतको आपने और आपके वालिद मेरे बहादुर दोस्त भगवानदासने इतनी मुश्किलोंसे कायम किया है उसको बरबाद होते देखकर आपको जरूर रंज होगा ।

मान०—मैं तो जहाँतक समझता हूँ प्रतापसिंहका यह इरादा कभी नहीं है कि वे जहाँपनाहकी सल्तनतपर कभी हमला करें । वे सिर्फ

इतना ही चाहते हैं कि चित्तौर पर किसी दूसरेका कब्जा न हो सके। वे सिर्फ अपने मुल्कका फायदा चाहते हैं दूसरोंके मुल्कोंपर कब्जा करनेका उनका इरादा नहीं है।

अक०—मैं इस बातको अच्छी तरह जानता हूँ। मगर आप यह भी यकीन रक्खें कि अगर मैं चित्तौरको अपने हाथसे खो दूँगा तो गोया मैं अपनी सारी सल्तनत खो दूँगा। मैं उम्मीद करता हूँ कि आप मुझको यह सल्तनत कायम रखनेमें पूरी मदद देंगे। क्योंकि एक तो आप मेरे दोस्तके लड़के हैं और दूसरे महीने दो महीनेमें ही हमारे खानदानके साथ आपका एक और गहरा तअल्लुक होनेवाला है। शायद यह कहनेकी जरूरत नहीं है कि मुझे हर तरहसे आपका ही भरोसा है।

मान०—जहाँपनाह इतमीनान रक्खें कि जहाँतक होगा मैं चित्तौरको हाथसे जाने न दूँगा।

अक०—बस बस, मैं आपसे यही उम्मीद रखता हूँ।

मान०—अच्छा तो अब मुझे इजाजत हो। (अभिवादन करके प्रस्थान।)

अक०—(मानसिंहके चले जानेपर कमरेमें इधर उधर टहलते हुए) उस दिन मैंने सलीमसे कहा था कि जो शख्स दूसरोंको अपने काबूमें करना चाहता हो उसे सबसे पहले अपने आपको काबूमें करना चाहिए। मगर उसके थोड़ी ही देर बाद मैंने गुस्सेमें आकर अपनी जानसे भी प्यारी लड़कीको खो दिया! और इधर नौरोजके मेलमें एक और बेवकूफी करके राजपूत राजाओंकी हमदर्दी भी गँवा बैठा! अब देखना है कि ये सब बातें फिरसे मुझे हासिल होती हैं या नहीं। मुझे महावतखाँसे मेहरुन्निसाका हाल मालूम हुआ है। मेहर, प्यारी बेटी! तू मुझे

छोड़कर मेरे दुश्मनके यहाँ जा रही ! आज मुझे यह भी सुनना पड़ा ! अब मैंने उससे माफी माँगी है और उसको वापस आनेके लिये लिखा है। आज मुझे अपनी लड़कीसे भी माफी माँगनी पड़ी ! या खुदा ! कैसी उलटी बात है ! वालिदोंको तूने इतना कमजोर बनाया है !

[चोवदारका प्रवेश ।]

अक०—मेहर, मेहर ! तू लौट आ। मैंने तेरे सब कसूर माफ कर दिये। तू भी मेरा एक कसूर माफ कर दे।

चोब०—खुदावन्द ! मेवाड़से एक कासिद आया है।

अक०—(चौंककर) मेवाड़से आया है ? कहाँ है, क्या खबर लाया है ?

चोब०—साथमें शाहजादी साहबा भी हैं।

अक०—मेहरुन्निसा भी आई है ! कहाँ है ?

(अकवरका झपटकर आगे बढ़ना, इतनेमें मेहरुन्निसाका वहाँ आ पहुँचना और ' अब्बा अब्बा ' कहते हुए पैरों पड़ जाना। इसी समय चोवदारका चुपचाप चला जाना।)

अक०—मेहर ! मेहर ! क्या सचमुच तुम आ गईं ?

मेहर—अब्बा ! अब्बा ! आप मुझे माफ करें। मुझसे जो कुछ गल्ती या बेवकूफी हुई हो उसे माफ करें। मैंने अपनी गल्तीसे बेचारी दौलतुन्निसाकी खराबीकी, राणाजीकी खराबी की और खुद अपनी भी खराबी की। मुझे माफ करें।

अकवर—उठो मेहर ! मैंने तो तुम्हें पहले ही लिख दिया था कि मैंने तुम्हारे सब कसूर माफ कर दिये। हिन्दोस्तानका बहादुर बादशाह भी तेरे सामने तो घासके तिनकेके माफिक ही कमजोर है ! मेहर बेटी ! तुमने मुझे माफ तो कर दिया न ?

मेहर—मैं आपको माफ करूँ ! किसलिये ?

अक०—इसलिये कि मैंने तुम्हारे सामने तुम्हारी माँकी निन्दा की थी।

मेहर०—उसके बारेमें तो आपने माफी माँग ली थी।

अकबर०—यदि माफी न माँगता तो तुम क्या वापस न आतीं ?

मेहर—यह तो मैं नहीं जानती। मगर मैं इतना सोच विचार-कर वापस नहीं आई हूँ। आपका खत पाया, पढ़ा। बस फिर मुझसे न रहा गया और मैं चली आई। अब्बा ! इसके पहले नहीं जानती थी कि मैं आपको इतना चाहती हूँ। (अकबरकी छातीपर सिर रखकर रोने लगती है। फिर अपनेको सँभालकर कहती है–) अब्बा ! इतने दिनोंमें अब मुझे मालूम हुआ कि औरतोंको कभी बहस नहीं करनी चाहिए बल्कि जो कुछ हो उसे चुपचाप सह लेना चाहिए। उन्हें घरसे बाहर न निकलना चाहिए बल्कि घरमें ही रहकर काम करना चाहिए। उन्हें खुदमुख्तार नहीं बन जाना चाहिए बल्कि दूसरोंकी खिदमत करनी चाहिए।

अक०—प्रतापसिंहने कभी तुम्हारे साथ कोई नामुसिब बरताव तो नहीं किया ?

मेहर—मेरे साथ नामुनासिब बरताव ! मुझे बचानेके लिये तो उन्होंने अपनी औरत तककी जान ले ली !

अक०—वह क्योंकर ?

मेहर—एक दिन राणाजीके लड़के अमरसिंहने शराब पीकर मेरा हाथ पकड़ा थां। यह देखते ही राणाजीने अमरसिंहपर चलानेके लिये बन्दूक उठाई। इस बीचमें उनकी रानी आखड़ी हुई, बन्दूक चल गई और वे मर गंईं।

अक०——इसमें शक नहीं कि प्रतापसिंह, तुम बहुत बड़े और लायक आदमी हो। मैंने कभी खयाल भी नहीं किया था कि तुम इतने बड़े हो! अगर कहीं तुम मेरे दोस्त होते तो तुम्हारा आसन मेरे दाहिने तरफ होता; लेकिन तुम मेरे दुश्मन हो इसलिये तुम्हारा आसन मेरे सामने मेरे मुकाबलेपर है। ऐसे शख्ससे दुश्मनी करना भी बड़ी इज्जतकी बात है। अगर मैं अकबर न होता तो मैं प्रतापसिंह ही बनना चाहता। मैं बादशाह जरूर हूँ और तमाम हिन्दोस्तानको अपने काबूमें रखना चाहता हूँ मगर मैं अपने आपको काबूमें नहीं रख सकता। लेकिन प्रतापसिंहने इस गई-बीती हालतमें भी अपनी पनाहमें आई हुई दुश्मनकी लड़कीको बचानेके लिये अपने लड़के तकको मार डालना चाहा!

मेहर——जहाँपनाह, मेरी एक अर्ज है। अब आप राणाप्रतापसिंहसे किसी तरहका झगड़ा न करें। एक बहादुरको दूसरे बहादुरकी जैसी इज्जत करनी चाहिए वैसी ही आप उनकी इज्जत करें। प्रतापसिंह चाहे आपके दुश्मन ही क्यों न हों मगर वे बहादुर हैं। वे इन्सान नहीं बल्कि फरिश्ता हैं। उनके साथ आपका झगड़ा करना ठीक नहीं मालूम देता। इस वक्त उनपर चारों तरफसे मुसीबतें आ रही हैं। उनकी लड़की मर गई, औरत मर गई, भाई अलग हो गया और लड़का नालायक निकल गया! ऐसे आदमीसे लड़ना-झगड़ना ठीक नहीं।

अक०——खैर, ऐसा ही सही। मैंने तुम्हारे बदलेमें उन्हें चित्तौर दे दिया है।

मेहर——मगर उन्होंने अभीतक उसे लेना मंजूर नहीं किया। हाँ एक बात तो मैं भूल ही गई थी। राणाजीने मुझे आपके लिये एक खत दिया है। (खत निकालकर अकबरको देती है।)

अक०—क्या खुद प्रतापसिंहका यह खत है ? (वह खत मेह-रको लौटाकर) मुझे जरा कम दिखलाई देती है बेटी ! तुम्हीं इसे पढ़ दो ।

मेहर—(खत लेकर पढ़ने लगती है ।-)

" प्रबलप्रतापेषु ! दुःखकी बात है कि आपकी भानजी दौल-तुन्निसा अब इस संसारमें नहीं है । वह फिनसहराकी लड़ाईमें लड़ती हुई मारी गई । उसका यथारीति अन्तिम संस्कार करा दिया गया है।

अक०—यह तो मैं पहले ही सुन चुका हूँ । हाँ और क्या लिखा है, पढ़ो ।

मेहर—और लिखा है—

" मुझे दौलतुन्निसाका हाल लड़ाईके बाद मेहरुन्निसासे मालूम हुआ है । परंतु शक्तसिंह उससे पहले ही इस खान्दानसे अलग कर दिया गया है । शक्तसिंह मेरा भाई था । इस लड़ाईमें वह मेरा दाहिना हाथ था । मगर अब शक्तसिंहका मेरे या मेवाड़के साथ कोई मतलब नहीं है ।

" अब भी मैं पहले की ही तरह आपका दुश्मन हूँ । चाहे चित्तौर आजाद हो सके चाहे न हो सके, मगर मेरी यह ख्वाहिश बराबर बनी रहेगी कि मैं हिन्दोस्तानके लूटनेवाले अकबरका दुश्मन बना रहकर ही मरूँ ।

" आपने यह इच्छा की है कि दुनियाको यह बात न मालूम हो कि दौलतुन्निसाने शक्तसिंहके साथ शादी की थी या मेहरुन्निसा मेरे यहाँ आकर रही थी ! विश्वास रखिए कि ऐसा ही होगा । मैं ये बातें किसी पर भी जाहिर न करूँगा ।

"आप यह भी चाहते हैं कि अगर मैं मेहरुन्निसाको आपके सिपुर्द कर दूँ तो उसके बदलेमें आप चित्तौरका किला मुझे दे देंगे । मेहरुन्निसा अपनी मरजीसे हमारे आश्रयमें आई थी । मैंने उसे लड़ाईमें कैद नहीं किया था और इसीलिये उसको वापस कर देनेका भी हक मुझको नहीं है। वह अपनी मरजीसे आई थी और अपनी ही मरज़ीसे जा रही है । मैं उसे किसी तरह रोक नहीं सकता । और इसी लिये मैं उसके बदलेमें चित्तौर नहीं चाहता। अगर मुझसे हो सकेगा तो मैं अपनी ताकतसे चित्तौर छुड़ा लूँगा । इति ।—राणा प्रतापसिंह ।"

अक०—(ऊँचे स्वरसे कह उठते हैं-) प्रताप ! प्रताप ! मैं समझता था कि तुम्हारे लिये मेरे सामने ही जगह है । मगर अब मुझे मालूम हुआ कि—नहीं, तुम्हारी जगह मुझसे ऊपर है और बहुत ऊपर है । मैंने समझा था कि तुम मेरी रिआया हो और मैं तुम्हारा बादशाह हूँ। मगर नहीं अब मालूम हुआ कि तुम्हीं बादशाह हो और मैं रिआया हूँ । पहले मैं समझता था कि मैं जीता और तुम हारे । मगर नहीं, अब मालूम हुआ कि तुम जीते और मैं हारा । अच्छा मेहर ! अब तुम महलमें जाओ । मैंने तुम्हारी बात मान ली । आजसे प्रतापसिंहके साथ मेरी कोई दुश्मनी नहीं है । आजसे वे मेरे दोस्त हुए । अब कोई भी मुगल उनका बाल बाँका न कर सकेगा । अच्छा बेटी, अब तुम महलमें जाओ, मैं अभी आता हूँ । (प्रस्थान ।)

मेहर—मेरी मेहनत फजूल नहीं गई ! मेरा तकलीफें उठाना, बेचैनी भोगना और भटकना सब सफल हो गया । आखिर मैंने बादशाह सलामत और राणाजीमें सुलह करा दी । (पाईंबागकी तरफकी खिड़कीके पास जाकर) आज मैं फिर उसी पुरानी प्यारी जगहपर आ गई जहाँ बचपनमें खेला करती थी । यही वह जगह है !

कैसी अच्छी नौबत बज रही है ! नीचे वही जमना नदी वह रही है। सब चीजें वही पहलेकी तरह हैं; सिर्फ मैं ही बदल गई हूँ। मैंने अपनी जिद और नासमझीसे शक्तसिंहका, दौलतुन्निसाका, राणा प्रतापसिंहका और अपना सत्यानास कर डाला ! मैं जहाँ पहुँची वहीं आफत और बला बनकर पहुँची। लेकिन फिर भी खुदा जानता है कि मैंने जो कुछ किया वह बहुत ही अच्छे इरादेसे किया। मैंने अकेले ही तमाम दुनियाके कुदरती कानूनोंका मुकाबला किया और आखिरमें इससे मैंने सिर्फ खराबियाँ ही पैदा कीं ! मगर फिर भी वह खुदा जानता है कि मैंने जो कुछ किया वह अपना ऐश-आराम छोड़कर, नुकसान उठाकर, अच्छे इरादेसे और आजाद होकर किया। अब मैं इन झंझटोंसे भरी हुई बाहरी दुनियासे हटकर अपने उस फर्जको अदा करूँगी, जो दुनियाकी नजरसे परे रहकर चुपचाप और बिला गरूर किया जाता है। अब मेरा फैसला वही खुदा करेगा। खुदा ! मैं नफरतके काबिल नहीं हूँ बल्कि रहमके काबिल हूँ।

छठा दृश्य।

स्थान—मानसिंहके महलका कमरा।

समय—रात।

[मारवाड़, बीकानेर, ग्वालियर और चँदेरीके राजा तथा मानसिंह बैठे हैं।]

चँदेरी—छिः छिः महाराज मानसिंह ! आपके मुँहसे और ऐसी बात !

मान०—आखिर मैं कौनसी अनुचित बात कह रहा हूँ ? यदि यह शासन विशृंखल होता तो मुझे आप लोगोंमें सम्मिलित होकर उसका विरोध करनेमें जरा भी आपत्ति न होती। परन्तु नहीं, मुगलोंके राज्यकी नीति केवल लूटपाट करना नहीं है, शासन करना है। इसमें पीड़न नहीं बल्कि रक्षा है, अहंकार नहीं बल्कि स्नेह है।

बीकानेर—और उस स्नेहकी मात्रा आवश्यकतासे कुछ अधिक है!—वह स्नेह बड़े बड़े प्रतिष्ठित राजाओंके अन्तःपुरोंतक जा पहुँचा है।

मान०—हाँ, इस बातसे तो मैं इनकार नहीं कर सकता। लेकिन एक बात है। अकबर बादशाह होने पर भी आदमी ही हैं। उनका उद्देश्य महत् होनेपर भी वे काम क्रोधादि रिपुओंके अधीन हैं। अन्याय और अपराध बीच बीचमें सभीसे हुआ करता है। और फिर अकबरने अपना अपराध स्वीकार कर लिया है। इसके लिये उन्होंने क्षमा भी माँगी है। उन्होंने प्रतिज्ञा की है कि अब मैं कभी भारतीय स्त्रियोंका अपमान न करूँगा। इसके सिवा और वे क्या कर सकते हैं ?

मारवाड़—हाँ यह तो ठीक ही है।

मान०—अकबरका उद्देश्य यही मालूम देता है कि हिन्दू और मुसलमान एक हो जायँ। दोनों मिल-जुलकर एक बन जायँ और उनके अधिकार समान हो जायँ।

ग्वालियर—परन्तु इसका तो कोई लक्षण नहीं दिखलाई देता।

मान०—सैकड़ों लक्षण और प्रमाण हैं। अकबर तो स्वयं मुसलमान हैं न ? परन्तु कौन नहीं जानता कि वे हिन्दूधर्म्मके पक्षपाती हैं ? मुसलमान यदि हिन्दुओंका धर्म ग्रहण कर सकते होते तो अकबर अबतक कभीके हिन्दू हो गये होते। वे हिन्दू नहीं हो सके, इसीलिये अब मुल्लाओं और पण्डितोंकी सहायतासे वे एक नया धर्म स्थापित

करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। उस धर्मको दोनों जातियाँ विना किसी प्रकारकी आपत्तिके ग्रहण कर सकती हैं। राज्यमें ऊँचे ऊँचे पद मुसलमानों और हिन्दुओंको समान रूपसे मिलते हैं। भारतकी सम्राज्ञी हिन्दू स्त्री हैं।

ग्वालियर—और फिर भारतकी भावी सम्राज्ञी भी तो महाराज मानसिंहकी वहिन हिन्दू-स्त्री ही हैं! (मारवाड़के राजाकी ओर देखकर) मैंने तो आपसे पहले ही कह दिया था कि महाराज मानसिंहसे कोई आशा न रखनी चाहिए। भारतकी स्वाधीनता केवल एक स्वप्न है!

मानसिंह—आप स्वाधीनताकी वातें करते हैं! जवतक जातीय जीवन न हो तवतक स्वाधीनता कैसी? और हमारा वह जीवन तो कभीका नष्ट हो गया है। इस समय तो जाति सड़ रही है।

चँदेरी—वह कैसे?

मान०—क्या इसका भी प्रमाण देनेकी आवश्यकता होगी? क्या यह असीम आलस्य, उदासीनता, निश्चेष्टता आदि जीवनके लक्षण हैं? द्रविड़देशके ब्राह्मण काशीके ब्राह्मणोंके साथ भोजन नहीं करते, समुद्रके पार जानेसे आदमीकी जाति चली जाती है। जो धर्म जातिका प्राण है, वह केवल मौखिक और आचारगत वन गया है। क्या यही सव जातिके जीवित होनेके लक्षण हैं? भाई भाईमें ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार और झगड़े होते रहते हैं। यह सव जातीय जीवनके लक्षण नहीं हैं। इसालिये मैं कहता हूँ कि वे दिन चले गये महाराज!

बीकानेर—यदि सब हिन्दू मिलकर एक हो जायँ तो अब भी वे दिन आ सकते हैं।

मान०—पर हिन्दुओंके हृदय अब इतना शुष्क हो गया है और वे इतने जड़ और विच्छिन्न हो गये हैं कि अब एक हो ही नहीं सकते ।

ग्वा०—तो क्या अब हिन्दुओंमें एकता कभी होगी ही नहीं ?

मान०—होगी । हिन्दुओंमें उसी दिन एकता होगी जिस दिन हिन्दू लोग इस सूखे, खोखले और जीर्ण शीर्ण आचारके आवरणको हटाकर जीते जागते और बिजलीके बलसे काँपते हुए नये धर्मको ग्रहण करेंगे ।

मारवाड़—मानसिंह बहुत ठीक कह रहे हैं ।

मान०—क्या आप लोग यह समझते हैं कि मैं इस मुगलोंके दासत्वका भार अपनी खुशीसे उठाये हूँ ? क्या आप लोग यह समझते हैं कि मैं मुगलोंके इस सम्बन्धसूत्रमें अपनी खुशीसे बँधा हूँ और उसका मुझे अभिमान है ? क्या आप लोग यह समझते हैं कि मैं महाराणा प्रतापसिंहका महत्त्व नहीं समझता ? क्या मैं ऐसा ही नासमझ और तुच्छ हूँ ? परन्तु महाराज, वह स्वाधीनताका स्वप्न सत्य होनेवाला नहीं है । इसलिये जो कुछ अपने सामने नहीं है उसका स्वप्न देखनेकी अपेक्षा जो कुछ अपने सामने है उसीका योग्य व्यवहार करना अधिक उत्तम है ।

[द्वारपालका आकर अभिवादन करना ।]

मान०—क्या समाचार है ?

द्वार०—बादशाह सलामतका एक पत्र है ।

मान०—कहाँ है ?

[द्वारपाल पत्र देता है, मानसिंह उसे लेकर पढ़ने लगते हैं ।]

बीकानेर—मैं तो पहले ही समझता था ।

ग्वालि०—मैंने भी तो कहा था ।

वीका०—हम लोग मानसिंहकी सहायता नहीं चाहते। हम प्रताप-सिंहके पक्षमें जायँगे और विद्रोह करेंगे।

मान०—महाराज, बादशाह सलामतने आप लोगोंको स्मरण किया है और मंत्रणागृहमें निमंत्रित किया है। लिखा है कि " शाहजादा सलीमके शुभविवाहके उपलक्षमें आप लोग मेरे सब अपराध क्षमा कर दें। "

चँदेरी—हम लोगोंका सौभाग्य! हम लोग कृतज्ञ हुए!

मारवाड़—इस शुभविवाहके उपलक्षमें वे और क्या कर रहे हैं?

मान०—उन्होंने इस शुभ कार्यके उपलक्षमें अपने सबसे प्रधान शत्रु राणा प्रतापसिंहको क्षमा कर दिया है और आज्ञा दी है कि जबतक प्रतापसिंह जीवित रहें तबतक मुगल-सेना कभी मेवाड़ पर आक्रमण करने न जाय। उन्होंने मुझे लिखा है कि भविष्यमें कोई मुगल सैनिक महाराणा प्रतापसिंहका बालतक बाँका न कर सके। अबतक चाहे प्रतापसिंह मेरे सबसे प्रबल शत्रु रहे हों परन्तु आजसे वे मेरे परमप्रिय मित्र हुए।

वीका०—इस उदारताका भी कुछ न कुछ अर्थ है। ' गले पड़े बजाये सिद्ध 'वाली बात दिखती है।

मान०—बादशाह सलामतने इसी समय मुझे बुलाया है, अतः आप लोग मुझे जानेकी आज्ञा दें। (सबको अभिवादन करके प्रस्थान।)

ग्वा०—तो फिर अब हम लोग भी चलें।

(सब लोग उठ खड़े होते हैं।)

मारवाड़—और चाहे जो कह लीजिए पर इसमें सन्देह नहीं कि बादशाह सलामतका हृदय उदार और उच्च है।

चँदेरी—हाँ वे शत्रुको क्षमा कर देते हैं।

दृश्य ।] पाँचवाँ अंक । २०९

ग्वा०—और क्षमा भी माँग सकते हैं ।

मारवाड़—हिन्दू राजाओंपर उनकी श्रद्धा है ।

चँदेरी—महाराज मानसिंहका यह कहना बहुत ही ठीक है कि वे जेता और विजितमें कोई भेद नहीं रखते ।

मारवाड़—और फिर हिन्दूधर्मके पक्षपाती भी हैं ।

ग्वा०—और सच बात तो यह है कि अब हिन्दुओंमें स्वतंत्र होनेकी शक्ति ही नहीं रह गई ।

मारवाड़—अरे 'स्वतंत्रता' पागलका स्वप्न है !

(सबका प्रस्थान ।)

सातवाँ दृश्य ।

स्थान—राजपथ ।

समय—रात ।

राजमार्गमें खूब रोशनी हो रही है । कुछ दूरपर बाजे बज रहे हैं । तरह तरहकी पताकाएँ उड़ रही हैं । बहुतसे सिपाही इधर उधर आते जाते हैं । एक किनारे कुछ दर्शक खड़े हुए बातचीत कर रहे हैं ।]

पहला दर्शक—(धक्का देकर) अजी सीधी तरहसे खड़े होओ ।

दू० दर्श०—अरे भाई धक्का क्यों देते हो ?

ती० दर्श०—अरे चुप रहो, अब बरात आनेमें देर नहीं है ।

चौथा दर्श०—अरे खड़े खड़े तो पैर थक गये, किसी तरह बरात आवे भी तो सही ।

पाँचवाँ दर्श०—क्यों जी शाहजादेका व्याह मानसिंहकी लड़कीके साथ ही हो रहा है न ?

पह० दर्श०—नहीं नहीं, उनकी बहनके साथ ।

दू० दर्श०—अजी नहीं, लड़कीके साथ होता है ।

ती० दर्श०—नहीं नहीं, हमें ठीक मालूम है, उनकी बहिनके साथ हो रहा है ।

दू० दर्शक—तो फिर यह ब्याह हो कैसे गया ? ऐसा तो कभी होना नहीं चाहिए था ।

पह० दर्श०—क्यों, हो क्यों नहीं सकता ?

दू० दर्श०—सलीमके दादा हुमायूँने भगवानदासकी लड़कीसे ब्याह किया और अब सलीम उनकी दूसरी लड़कीसे ब्याह कर रहे हैं !

पह० दर्श०—तो फिर इसमें हर्ज ही क्या है ?

दू० दर्श०—और सलीमके बापने ब्याह किया भगवानदासकी बहिनके साथ

चौथा दर्श०—सम्बन्ध तो कुछ बेकायदे नहीं हुए ! बापने ब्याह किया भगवानदासकी बहिनके साथ और दादा और पोतेने बाँट लिया भगवानदासकी दोनों लड़कियोंको !

पाँचवाँ दर्शक—सम्बन्धका सूत्र भगवानदासके ही चारों ओर लिपट रहा है ।

पह० दर्श०—भगवान सचमुच ही बड़े भाग्यवान् पुरुष हैं !

दू० दर्श०—मगर महाराज मानसिंह बड़ी भारी चाल चले हैं ।

पाँचवाँ दर्श०—वह क्या ?

दू० दर्श०—बस चटपट शाहजादा सलीमके साले बन गये !

ती० दर्श०—सलीमका साला बनना भी तो बड़े भाग्यकी बात है !

पाँचवाँ दर्श०—क्यों इसमें भाग्यकी क्या बात है ?

तीo दर्शo—पहले तो साला बनना ही भाग्यकी बात है और तिसपर शाहजादेका साला बनना और भी बड़े भाग्यकी बात है ।

पाँचवाँ दर्शo—हाँ हाँ भाई जिसके भाग्यमें लिखा होता है वही साला होता है ।

तीसरा दर्शo—अरे यह पूर्वजन्मके कर्म्मोंका फल है । यहीं आकर पूर्वजन्म मानना पड़ता है ।

पाँचवाँ दर्शo—बिना माने काम ही नहीं चलता ।

तीo दर्श—नहीं तो क्या शाहजादेका साला बनना कोई हँसी ठट्ठा है ?

पहo दर्शo—क्यों जी इस व्याहको लेकर शाहजादा सलीमके कुल कितने व्याह हुए ?

दूo दर्शo—सौसे ऊपर हो गये होंगे ।

तीo दर्शo—और नहीं तो क्या, हम लोग तो मुद्दतसे हर महीने एक व्याह देखते आते हैं ।

चौo दर्शo—जिसकी इतनी स्त्रियाँ हों वह अवश्य ही बहुत बड़ा भाग्यवान् है ।

पहo दर्शo—इससे भाग्यसे क्या सम्बन्ध है ?

चौo दर्शo—क्यों इसमें भाग्यकी कोई बात ही नहीं है ? सोते जागते, उठते बैठते, नहाते धोते, खाते पीते, आते जाते, हरदम एक न एकका मुँह दिखलाई पड़ता रहे । मानों गुलाबके किसी बागमें ही घूम रहे हैं ।

पहo दर्शo—लो बरात आ रही है । जरा सीधी तरहसे खड़े हो जाओ ।

दूसरा दo—अजी रामसिंह, तुम्हारा माथा तो आकाशको छूता है ।

आठवाँ दृश्य।

स्थान—चित्तौरके पासका जंगल।

समय—सन्ध्या।

[प्रतापसिंह मृत्युशय्यापर पड़े हुए हैं। सामने वैद्यराज, राजपूत सरदार, पृथ्वीराज और अमरसिंह खड़े हैं।]

प्रताप—पृथ्वीराज! यह भी सहना पड़ा! मुझे सम्राट्का भी कृपापात्र बनना पड़ा!

पृथ्वी०—यह उनकी कृपा नहीं, भक्ति है।

प्रताप—क्यों व्यर्थकी बातें करते हो? भक्ति कैसी, यह कृपा ही है। मैं इस समय अभागा, दुर्बल, पीड़ित और दुःखी हूँ। इसी लिये अब सम्राट् मुझपर आक्रमण न करेंगे। मरते समय ऐसी बातें भी सुननी पड़ीं! ओफ! गोविन्दसिंह!

गोविन्द०—राणाजी!

प्रताप—मुझे एक बार इस खेमेके बाहर ले चलो। मैं मरनेसे पहले एक बार चित्तौरका दुर्ग देख लूँ।

(गोविन्दसिंह वैद्यकी ओर देखने लगते हैं।)

वैद्य०—क्या हर्ज है, बाहर ले चलिए।

(सब लोग मिलकर प्रतापसिंहका पलंग खेमेके बाहर निकाल लाते हैं और किलेके सामने रख देते हैं।)

गोविन्द०—(अलग हटकर वैद्यराजसे) तो क्या अब बचनेकी कोई आशा नहीं है?

वैद्य०—बिलकुल नहीं।

(गोविन्दसिंह सिर झुका लेते हैं।)

प्रताप—(शय्यापरसे आधे उठकर चित्तौर दुर्गकी ओर देखते हुए) यही वह चित्तौर है ! यही वह अजेय दुर्ग है जिसपर किसी समय राजपूतोंका अधिकार था । आज उसपर मुगलोंका झण्डा उड़ रहा है ! आज मुझे अपने उन पूर्वपुरुष स्वर्गीय वाप्पा रावलका ध्यान आता है जिन्होंने चित्तौरपर आक्रमण करनेवाले म्लेच्छको परास्त करके गजनीतक उसका पीछा किया था और गजनीके सिंहासनपर अपने भतीजेको बैठाया था ! आज मुझे पठानोंके साथ होनेवाले समरसिंहके उस युद्धका ध्यान आता है जिसमें कागर नदका नीला जल म्लेच्छ और राजपूतोंके रक्तसे लाल हो गया था । आज मुझे रानी पद्मिनीके लिये होनेवाले उस महायुद्धका ध्यान आता है जिसमें वीरनारी चंदावत-रानीने अपने सोलह वर्षके पुत्र और पुत्रवधूको लेकर यवनोंके साथ युद्ध किया था और जिस युद्धमें उनके प्राण गये थे । आज वे सब घटनाएँ मुझे प्रत्यक्ष सी दिख रही हैं । यही वह चित्तौर है । मैं इसीका उद्धार करना चाहता था परन्तु मुझसे उद्धार न हो सका । मैं अपना कार्य समाप्त करनेहीको था कि इतनेमें दिन बीत गया, सन्ध्या हो गई और काम अधूरा रह गया ।

पृथ्वी०—राणाजी, आप इसके लिये चिन्ता न करें । सदा सब काम एक ही व्यक्तिके द्वारा पूरे नहीं होते । वे अधूरे भी रह जाते हैं और कभी कभी पिछड़ भी जाते हैं । परन्तु समय पाकर उस व्रतके पालनेवाले ऐसे उत्तराधिकारी भी जन्म लेते हैं जो अधूरे या पिछड़े हुए कामोंको पूरा कर डालते हैं । एकके बाद दूसरी लहर आती है और पीछे हटती है । इस प्रकार समुद्र आगे बढ़ता है । दिनके बाद रात होती है, फिर दिन चढ़ता है और उसके बाद फिर रात आती है । इस प्रकार पृथ्वी-जीवन आगे बढ़ता है । असीम स्पन्दन और निवृत्तिसे प्रका-

शका विस्तार होता है। जन्म और मृत्युसे मनुष्यका उत्थान होता है, सृष्टि और प्रलयसे ब्रह्माण्डका विकास होता है! अतः आप कोई चिन्ता न करें।

प्रताप—यदि मैं अपने पीछे एक वीर पुत्र छोड़ जाता तो मुझे कुछ भी चिन्ता न रहती। मगर—ऊः—(करवट बदलते हैं।)

गोविंद०—क्या राणाजीको अधिक कष्ट हो रहा है?

प्रताप—हाँ। परन्तु गोविंदसिंह, यह कष्ट शारीरिक नहीं बल्कि मानसिक है। मैं समझता हूँ कि मेरे मर जानेपर यह काम बहुत ही पिछड़ जायगा।

गोविंद०—वह क्यों?

प्रताप—मैं समझता हूँ कि अमरसिंह सम्मानके लोभमें पड़कर मेरे इस उद्धार किये हुए राज्यको मुगलोंके हाथ सौंप देगा।

गोविन्द०—राणाजी, आप इस बातकी कोई आशंका न करें।

प्रताप—गोविन्दसिंह, मेरी यह आशंका निर्मूल नहीं है। अमर विलासी है। उससे दरिद्रताके ये कष्ट न सहे जायँगे। इसीलिये मुझे आशंका होती है कि मेरी मृत्युके उपरान्त इस कुटीकी जगह प्रसाद बनेंगे और मेवाड़-भूमि मुगलोंके हाथ बिक जायगी। तुम लोग भी उस विलासको आश्रय दोगे।

गोविन्द०—मैं बाप्पाजीको साक्षी करके कहता हूँ कि ऐसा कभी न होगा।

प्रताप—तब तो मैं कुछ सुखपूर्वक मर सकूँगा। (अमरसिंहको ओर देखकर) अमर, यहाँ आओ। देखो, अब मैं जाता हूँ। सुनो, मैं आज जहाँ जा रहा हूँ वहाँ एक न एक दिन सभीको जाना होगा।

बेटा, रोओ मत, मैं तुम्हें अकेला नहीं छोड़ जाता । मैं तुम्हें उन लोगोंके पास छोड़ रहा हूँ, जिन्होंने पचीस वर्षतक अनेक प्रकारके दुःखों और कष्टोंमें पर्वतों और जंगलोंमें मेरा साथ दिया है । यदि तुम उन लोगोंको न छोड़ेगे तो वे लोग भी तुम्हें कदापि न छोड़ेंगे । वे सब ही प्रतापसिंहके पुत्रके लिये प्राण देने तकको तैयार रहेंगे । मैं तुमको सारा मेवाड़ राज्य दिये जाता हूँ । दुःख केवल इसी बातका है कि तुम्हें चित्तौर न दे सका । हाँ, तुमपर उस चित्तौरके उद्धारका भार अवश्य दे जाता हूँ और साथमें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम इस चित्तौरका उद्धार करनेमें समर्थ हो । और साथमें यह निष्कलंक तलवार दे जाता हूँ । (अमरको तलवार देकर) मुझे आशा है कि तुम इस तलवारको सदा उज्ज्वल रक्खोगे और इसमें कलंक न लगने दोगे । बस बेटा, और क्या कहूँ । बस मेरा यही आशीर्वाद है, जाओ, विजयी हो, यशस्वी हो, और सुखी रहो ।

(अमरसिंह अपने पिताके चरण छूते हैं, प्रतापसिंह उन्हें आशीर्वाद देते हैं ।)

प्रताप—(कुछ देरतक चुप रहकर) मेरी आँखोंके सामने अँधेरा छा रहा है, कण्ठ रुँध रहा है । अमरसिंह, तुम कहाँ हो ! बेटा, आओ ! और भी पास आओ । अब मैं जाता हूँ–जाता हूँ । प्रियतमा लक्ष्मी ! ठहरो, मैं आ रहा हूँ !

वैद्य०—(नाड़ी देखकर) राणाजीकी जीवनलीला समाप्त हो गई । अब अन्तिम संस्कारका प्रबन्ध होना चाहिए ।

गोविन्द०—पुरुषोत्तम ! मेवाड़के सूर्य ! हाय, प्रिय सखा ! अपने इस पुराने साथीको छोड़कर तुम कहाँ चले गये ? (यह कहते कहते मृत राणाके चरणोंमें लोट जाते हैं ।)

(सारे राजपूत सरदार घुटने टेककर राणाजीके चरण छूते हैं।)

पृथ्वी०—वीरवर ! तुमने अपने पुण्योंसे जो स्वर्गधाम अर्जित किया है उसी स्वर्गधामको जाओ ! तुम्हारी कीर्त्ति अनन्त कालतक केवल राजपूतों और मुगलोंके ही हृदयमें नहीं बल्कि समस्त मानव-जातिके हृदयमें बनी रहेगी। इतिहासके पृष्ठोंपर तुम्हारी कीर्तिकथा सोनेके अक्षरोंसे लिखी जायगी, अरावलीकी प्रत्येक चोटी और घाटीमें प्रतिध्वनित होगी और राजस्थानका प्रत्येक खेत, प्रत्येक वन और प्रत्येक पर्वत तुम्हारी अक्षय स्मृतिसे सदा पवित्र बना रहेगा।